



THE SAMNYASA UPANISHADS

WITH THE COMMENTARY OF

SRI UPANISHAD-BRAHMA-YOGIN

EDITED BY

MR. T. R. CHINTAMANI DIKSHIT, M.A.

WITH THE ASSISTANCE OF THE PANDITS OF THE ADYAR LIBRARY

PUBLISHED FOR THE ADYAR LIBRARY

(THEOSOPHICAL SOCIETY)

1929

ՀԱՅԿԱՅԻՆ ԱՅԼԱՅԻՆ ԶԱՆԻ

WILSON, J. H.

1908-1909-1910-1911-1912-1913-1914-1915-1916-1917-1918-1919-1920-1921-1922-1923-1924-1925-1926-1927-1928-1929-1930-1931-1932-1933-1934-1935-1936-1937-1938-1939-1940-1941-1942-1943-1944-1945-1946-1947-1948-1949-1950-1951-1952-1953-1954-1955-1956-1957-1958-1959-1960-1961-1962-1963-1964-1965-1966-1967-1968-1969-1970-1971-1972-1973-1974-1975-1976-1977-1978-1979-1980-1981-1982-1983-1984-1985-1986-1987-1988-1989-1990-1991-1992-1993-1994-1995-1996-1997-1998-1999-2000-2001-2002-2003-2004-2005-2006-2007-2008-2009-2010-2011-2012-2013-2014-2015-2016-2017-2018-2019-2020-2021-2022-2023-2024-2025-2026-2027-2028-2029-2030-2031-2032-2033-2034-2035-2036-2037-2038-2039-2040-2041-2042-2043-2044-2045-2046-2047-2048-2049-2050-2051-2052-2053-2054-2055-2056-2057-2058-2059-2060-2061-2062-2063-2064-2065-2066-2067-2068-2069-2070-2071-2072-2073-2074-2075-2076-2077-2078-2079-2080-2081-2082-2083-2084-2085-2086-2087-2088-2089-2090-2091-2092-2093-2094-2095-2096-2097-2098-2099-2100-2101-2102-2103-2104-2105-2106-2107-2108-2109-2110-2111-2112-2113-2114-2115-2116-2117-2118-2119-2120-2121-2122-2123-2124-2125-2126-2127-2128-2129-2130-2131-2132-2133-2134-2135-2136-2137-2138-2139-2140-2141-2142-2143-2144-2145-2146-2147-2148-2149-2150-2151-2152-2153-2154-2155-2156-2157-2158-2159-2160-2161-2162-2163-2164-2165-2166-2167-2168-2169-2170-2171-2172-2173-2174-2175-2176-2177-2178-2179-2180-2181-2182-2183-2184-2185-2186-2187-2188-2189-2190-2191-2192-2193-2194-2195-2196-2197-2198-2199-2200-2201-2202-2203-2204-2205-2206-2207-2208-2209-2210-2211-2212-2213-2214-2215-2216-2217-2218-2219-2220-2221-2222-2223-2224-2225-2226-2227-2228-2229-2230-2231-2232-2233-2234-2235-2236-2237-2238-2239-2240-2241-2242-2243-2244-2245-2246-2247-2248-2249-2250-2251-2252-2253-2254-2255-2256-2257-2258-2259-2260-2261-2262-2263-2264-2265-2266-2267-2268-2269-2270-2271-2272-2273-2274-2275-2276-2277-2278-2279-2280-2281-2282-2283-2284-2285-2286-2287-2288-2289-2290-2291-2292-2293-2294-2295-2296-2297-2298-2299-2300-2301-2302-2303-2304-2305-2306-2307-2308-2309-2310-2311-2312-2313-2314-2315-2316-2317-2318-2319-2320-2321-2322-2323-2324-2325-2326-2327-2328-2329-2330-2331-2332-2333-2334-2335-2336-2337-2338-2339-2340-2341-2342-2343-2344-2345-2346-2347-2348-2349-2350-2351-2352-2353-2354-2355-2356-2357-2358-2359-2360-2361-2362-2363-2364-2365-2366-2367-2368-2369-2370-2371-2372-2373-2374-2375-2376-2377-2378-2379-2380-2381-2382-2383-2384-2385-2386-2387-2388-2389-2390-2391-2392-2393-2394-2395-2396-2397-2398-2399-2400-2401-2402-2403-2404-2405-2406-2407-2408-2409-2410-2411-2412-2413-2414-2415-2416-2417-2418-2419-2420-2421-2422-2423-2424-2425-2426-2427-2428-2429-2430-2431-2432-2433-2434-2435-2436-2437-2438-2439-2440-2441-2442-2443-2444-2445-2446-2447-2448-2449-2450-2451-2452-2453-2454-2455-2456-2457-2458-2459-2460-2461-2462-2463-2464-2465-2466-2467-2468-2469-2470-2471-2472-2473-2474-2475-2476-2477-2478-2479-2480-2481-2482-2483-2484-2485-2486-2487-2488-2489-2490-2491-2492-2493-2494-2495-2496-2497-2498-2499-2500-2501-2502-2503-2504-2505-2506-2507-2508-2509-2510-2511-2512-2513-2514-2515-2516-2517-2518-2519-2520-2521-2522-2523-2524-2525-2526-2527-2528-2529-2530-2531-2532-2533-2534-2535-2536-2537-2538-2539-2540-2541-2542-2543-2544-2545-2546-2547-2548-2549-2550-2551-2552-2553-2554-2555-2556-2557-2558-2559-2560-2561-2562-2563-2564-2565-2566-2567-2568-2569-2570-2571-2572-2573-2574-2575-2576-2577-2578-2579-2580-2581-2582-2583-2584-2585-2586-2587-2588-2589-2590-2591-2592-2593-2594-2595-2596-2597-2598-2599-2600-2601-2602-2603-2604-2605-2606-2607-2608-2609-2610-2611-2612-2613-2614-2615-2616-2617-2618-2619-2620-2621-2622-2623-2624-2625-2626-2627-2628-2629-2630-2631-2632-2633-2634-2635-2636-2637-2638-2639-2640-2641-2642-2643-2644-2645-2646-2647-2648-2649-2650-2651-2652-2653-2654-2655-2656-2657-2658-2659-2660-2661-2662-2663-2664-2665-2666-2667-2668-2669-2670-2671-2672-2673-2674-2675-2676-2677-2678-2679-2680-2681-2682-2683-2684-2685-2686-2687-2688-2689-2690-2691-2692-2693-2694-2695-2696-2697-2698-2699-2700-2701-2702-2703-2704-2705-2706-2707-2708-2709-2710-2711-2712-2713-2714-2715-2716-2717-2718-2719-2720-2721-2722-2723-2724-2725-2726

77 282102

1950 JUN 10 11A 4411 100 100 100

THE UNIVERSITY OF CHICAGO

625000 1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

24

अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु
संन्यास-उपनिषदः



श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचितन्याख्यायुताः

अडयार्-पुस्तकालयस्थैः पण्डितैः सहकृतेन

टि. आर्. चिन्तामणिदीक्षितेन

संपादिताः

अडयार्-पुस्तकालयाथे

प्रकटीकृताश्च

१९२९

पुस्तकालय

कनिष्ठ-शास्त्र

पुस्तकालय

पुस्तकालय

पुस्तकालय

पुस्तकालय

पुस्तकालय

पुस्तकालय

पुस्तकालय

ॐ नमो
ब्रह्मादिभ्यो
ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो
वंशऋषिभ्यो
नमो गुरुभ्यः

DEDICATED TO
Brahma and the Rishis,
The Great Teachers
Who handed down Brahmavidya
through Generations

1911

1912

1913

1914

1915

DEDICATED TO

Brother and the Sister

The Great Teachers

Who have been down through the

long generations

PREFACE

WITH this volume the Adyar Library finishes the publication of the Minor Upaniṣads, 98 in number, with the commentary of Upaniṣadbrahmayogin, which was undertaken by my predecessor the late Pandit A. Mahadeva Sastri. He had published four volumes, and I now issue the fifth volume containing the Saṃnyāsopaniṣads. I have closely followed the plan of the previous volumes. The book was seen through the press by the Pandits of the Adyar Library, who have worked with my predecessor in the publication of the previous volumes, and also by the assistant librarian, Mr. T. R. Chintamani, M.A. The Library does not intend at present to issue the ten Major Upaniṣads with the commentary of Upaniṣadbrahmayogin. The Library contains about 75 Upaniṣads more, nearly all of them yet unpublished. The Library will very soon issue all these Minor Upaniṣads, along with any more that may be available from outside.

C. KUNHAN RAJA,

Hon. Director.

LIBRARY

This library contains the books of the
 United States of America, and is
 the property of the Government. It is
 the duty of every citizen to
 preserve it, and to use it
 for the benefit of the
 community. The books are
 arranged in alphabetical order
 of the author's name, and
 are numbered for reference.
 The books are loaned to
 the public, and are to be
 returned to the library
 when they are no longer
 wanted. The books are
 to be used for the purpose
 of study and research, and
 are not to be used for
 any other purpose. The
 books are to be kept in
 good condition, and are
 to be replaced when they
 are worn or damaged.

THE LIBRARY

New York

अस्मिन् सम्पुटे अन्तर्गतानामुपनिषदां सूची

संख्या	उपनिषद्नाम	ईशादिसंख्या	पुटसंख्या
१.	अवधूतोपनिषत् . . .	७९	१
२.	आरुण्युपनिषत् . . .	१६	९
३.	कठरुद्रोपनिषत् . . .	८३	१७
४.	कुण्डिकोपनिषत् . . .	७४	२७
५.	जाबालोपनिषत् . . .	१३	३८
६.	तुरीयातीतावधूतोपनिषत् . . .	६४	५१
७.	नारदपरिव्राजकोपनिषत् . . .	४३	५५
८.	निर्वाणोपनिषत् . . .	४७	१३४
९.	परब्रह्मोपनिषत् . . .	७८	१४९
१०.	परमहंसपरिव्राजकोपनिषत् . . .	६६	१६१
११.	परमहंसोपनिषत् . . .	१९	१७१
१२.	ब्रह्मोपनिषत् . . .	११	१७७
१३.	भिक्षुकोपनिषत् . . .	६०	१९०
१४.	मैत्रेय्युपनिषत् . . .	२९	१९३
१५.	याज्ञवल्क्योपनिषत् . . .	९७	२१३
१६.	शाठ्यायनीयोपनिषत् . . .	९९	२२२
१७.	संन्यासोपनिषत् . . .	६५	२३६

विषयसूचिका

१. अवधूतोपनिषत्

अवधूतजिज्ञासा	१
अवधूतशब्दस्याक्षरार्थः	१
प्रधानगौणावधूतचर्या	२
प्रियादिवृत्तेः पक्षित्वेन वर्णनम्	२
ज्ञानस्य फलम्	३
अवधूतचर्यानुक्रमणम्	३
महाव्रतम्	४
परमार्थसदुपदेशः	४
श्रवणादिविधानम्	५
विद्याफलम्	७

२. आरुण्युपनिषत्

पारिव्राज्यलक्षणम्	९
संन्यस्यमानस्य कर्तव्यानि	१०
संन्यासमन्त्रलिङ्गविध्यादि	१२
संन्यासिनामासनादिनियमाः	१३
भिक्षानियमाः	१४
भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रः	१४

विद्वत्संन्यासाधिकारः	१५
उपसंहारः	१५

३. कठरुद्रोपनिषत्

ब्रह्मविद्याध्ययनम्	१७
ब्रह्मविद्याङ्गसंन्यासनिरूपणम्	१८
संन्यासक्रमः	१९
संन्यस्तस्य कर्तव्यानि	२०
ब्रह्मचर्यलक्षणम्	२१
ब्रह्मचर्यस्य फलम्	२१
ब्रह्मभावापत्तेः ज्ञानायत्तता	२१
ब्रह्मज्ञानफलम्	२२
एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः सप्तधा भेदः	२५
विद्याफलम्	२५

४. कुण्डिकोपनिषत्

संन्यासपरिग्रहात्पूर्वं कर्तव्यानामनुक्रमणम्	२७
विदारस्यैव संन्यासाधिकारः	२९
जन्मनिवृत्त्यर्थं संन्यासपरिग्रहः	३०
संन्यस्तस्य न श्रौतस्मार्ताग्निसेवनम्	३१
अग्निसेवने प्रत्यवायः	३१
चित्तशुद्ध्यर्थं प्रणवादिमहावाक्यानामावर्तनम्	३१
दीक्षानियमाः	३२
विश्वाधिष्ठानात्पञ्चभूतानां भेदः	३३
यतेः स्वानुभवप्रकटनम्	३४
योगाभ्यासेन ब्रह्मसाक्षात्कारः	३४

सविशेषज्ञानिनः क्रममुक्तिः	३९
निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनां मोक्षः	३६

५. जावालोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

अविमुक्तोपासनम्	३८
---------------------------	----

द्वितीयः खण्डः

अविमुक्तस्वरूपजिज्ञासा	४०
अविमुक्तोपलब्धिसाधनम्	४०

तृतीयः खण्डः

अविमुक्तज्ञानोपायः	४२
------------------------------	----

चतुर्थः खण्डः

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा	४२
आहिताग्निसंन्यासविधिः	४४
निरग्निकसंन्यासविधिः	४५

पञ्चमः खण्डः

ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः	४६
संन्यासेऽधिकृतानां कर्तव्यनिरूपणम्	४६

षष्ठः खण्डः

पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता	४७
साम्बरपरमहंसलक्षणम्	४८
दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्	४८

६. तुरीयातीतावधूतोपनिषत्

तुरीयातीतावधूतचर्या, निष्ठाच	९१
------------------------------	----

७. नारदपरिव्राजकोपनिषत्

प्रथमोपदेशः

नारदं प्रति शौनकादीनां प्रश्नः	९५
विदेहमुक्तिलामोपायोपदेशः	९६

द्वितीयोपदेशः

पारिव्राज्यस्वरूपक्रमः	९९
------------------------	----

तृतीयोपदेशः

संन्यासाधिकारी	६१
आतुरसंन्यासः	६२
आतुरसंन्यासविधिः	६२
देशान्तरस्थाहिताग्नेः संन्यासविधिः	६३
सतृष्णस्य संन्यासपरिग्रहे नरकप्राप्तिः	६३
वैतृष्ण्यमेव संन्यासपरिग्रहे हेतुः	६४
विद्वत्संन्यासः	६४
अवैधपरिग्रहे प्रत्यवायः	६६
परिव्राजकानां धर्माः	६६
यतिचर्या तत्फलं च	६९
अजिह्वादीनां लक्षणम्	७०
यतीनां वर्जनीयानि	७१
यतिभिरनुष्ठेयानि	७२
आश्रमानुसारेण पारिव्राज्यम्	७२

यतैरेव मुख्यब्राह्मण्यम्	७४
पारमहंस्यावधूताश्रमपरिग्रहः	७५

चतुर्थोपदेशः

यतिधर्माणां तत्फलस्य चोपन्यासः	७७
क्रमसंन्यासविधिनिरूपणम्	८२

पञ्चमोपदेशः

संन्यासप्रभेदा अनुष्ठानभेदाश्च	८७
संन्यासचातुर्विध्यम्	८८
वैराग्यसंन्यासः	८८
ज्ञानसंन्यासः	८९
ज्ञानवैराग्यसंन्यासः	८९
कर्मसंन्यासः	८९
निमित्तानिमित्तभेदेन कर्मसंन्यासस्य द्वैविध्यम्	९०
कुटीचकादिभेदेन संन्यासः षड्विधः	९०
कुटीचकलक्षणम्	९१
बहूदकलक्षणम्	९१
हंसलक्षणम्	९१
परमहंसलक्षणम्	९१
तुरीयातीतलक्षणम्	९२
अवधूतलक्षणम्	९२
जीवत आतुरस्य क्रमसंन्यासः	९२
कुटीचकादीनां संन्यासविधिः	९२
परमहंसादित्रयाणां संन्यासविधिः	९३
कुटीचकादीनां भिक्षाविशेषः	९३
तेषां प्राप्यस्थानानि	९४

ब्रह्मानुसन्धानमेव कर्तव्यं, नान्यत् . . .	९९
अननुसंधाने पातित्यम् . . .	९७
तुरीयातीतानां भोजनादिकं अन्यदीयेच्छयैव . . .	९८
ब्रह्मविद्वरिष्ठः . . .	९८
यतीनां भोजनादिनियमाः . . .	९९
यतेर्जितेन्द्रियत्वम् . . .	१००
यतेः सर्वकर्मपरित्यागः . . .	१००
यतेरसाधारणधर्माः . . .	१०२

षष्ठोपदेशः

मोक्षोपायजिज्ञासा . . .	१०४
विद्वद्देहशरीरवर्णनादिकम् . . .	१०४
तुर्यातीतत्वप्राप्त्युपायः . . .	१०५
तुर्यातीतस्वरूपम् . . .	१०७
असच्चर्यात्यागः सच्चर्यानुष्ठानं च . . .	१०८
विविदिषोः श्रवणादिविधिः . . .	११०

सप्तमोपदेशः

यतिनियमाः . . .	११३
कुटीचकादीनां स्नानादिनियमेषु विशेषः . . .	११५

अष्टमोपदेशः

तारकस्वरूपजिज्ञासा . . .	११७
अन्तःप्रणवादीनां स्वरूपकथनम् . . .	१२०
विराट्प्रणवस्य षोडशमात्रात्मकत्वम् . . .	१२१
परब्रह्मानुसन्धानम् . . .	१२३
विश्वादीनां चातुर्विध्यम् . . .	१२४

तुर्यावस्थायाश्चातुर्विध्यम्	१२५
तुर्यतुरीयो ब्रह्मप्रणवः	१२६

नवमोपदेशः

ब्रह्मस्वरूपवर्णनम्	१२७
शास्त्रवेदनफलम्	१२९
ब्रह्मप्राप्तिस्तद्वेतुश्च	१३१

८. निर्वाणोपनिषत्

मुख्यावधूतलक्षणम्	१३४
गौणावधूतः तच्चर्या तत्फलं च	१४६
मुख्यावधूतोपायसंपत्तिः	१४७
अधिकारिनिरूपणम्	१४८

९. परब्रह्मोपनिषत्

वरिष्ठा ब्रह्मविद्या	१४९
त्रिपाद्ब्रह्मप्रापकोपायः	१५१
अन्तर्ब्राह्मशिखादिलक्षणम्	१५४
निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्	१५५
कर्मणः चित्तशुद्धिप्रापकत्वम्	१५५
मुमुक्षुणा कर्तव्यानि	१५८

१०. परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

परिव्राजकलक्षणजिज्ञासा	१६१
अधिकारिनिरूपणम्	१६२
निरामयस्य संन्यासः	१६३

ब्रह्मप्रणवस्वरूपजिज्ञासा	१६६
अयज्ञोपवीतिनो ब्राह्मणत्वम्	१६८

११. परमहंसोपनिषत्

परमहंसपरिव्राजकानां मार्गः	१७१
परमहंसपरिव्राजकानां स्थितिः	१७२

१२. ब्रह्मोपनिषत्

चतुष्पाद्ब्रह्म	१७७
परस्य ब्रह्मणोऽक्षरत्वम्	१७९
निर्वाणस्यैकत्वम्	१८०
त्रिवृत्सूत्रम्	१८०
नहिस्सूत्रम्	१८१
ब्रह्मसूत्रम्	१८१
ज्ञानशिखादीनां मुख्यब्राह्मण्यलिङ्गता	१८३
क्रियाङ्गसूत्रम्	१८३
निरुपचरितब्राह्मण्यम्	१८४
यज्ञोपवीतयाथात्म्यम्	१८४
ब्रह्मीभूतो विद्वानेक एव	१८५
ब्रह्मात्युपायः	१८६

१३. भिक्षुकोपनिषत्

चतुर्विधा भिक्षवः	१९०
कुटीचकाः	१९०
वृद्धकाः	१९१

हसाः	१९१
परमहंसाः	१९१

१४. मैत्रेय्युपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

संसारविरक्तस्यात्मजिज्ञासा	१९३
संसारनिर्वेदगाथा	१९३
ब्रह्मणो याथात्म्यप्रकटनम्	१९५

द्वितीयोऽध्यायः

मैत्रेयं प्रति महादेवस्योपदेशः	१९९
शौचविधानम्	२००
चित्तशुद्धिः	२०१
अहङ्कारादित्यागः	२०१
कर्मत्यागः	२०२
मुख्यसंन्यासः	२०२
संन्यासाधिकारी	२०३
मुक्तिं प्रति साधनान्तराणि	२०३
अनुभवः	२०३
परमरहस्योपदेशः	२०४
विदेहमुक्तस्य स्थितिः	२०५

तृतीयोऽध्यायः

मैत्रेयस्य स्वानुभवप्रकटनम्	२०६
---------------------------------------	-----

१५. याज्ञवल्क्योपनिषत्

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा	२१३
--	-----

आहिताग्निसंन्यासविधिः	.	.	.	२१३
निरग्निकसंन्यासविधिः	.	.	.	२१४
ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः	.	.	.	२१४
संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तव्यनिरूपणम्	.	.	.	२१४
पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता	.	.	.	२१५
साम्बरपरमहंसलक्षणम्	.	.	.	२१५
दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्	.	.	.	२१५
परिव्राजिनः परमेश्वरत्वम्	.	.	.	२१६
स्त्र्यादीनां कुत्सनम्	.	.	.	२१७
सद्यतिः	.	.	.	२१९

१६. शाठ्यायनीयोपनिषत्

मनसो बन्धमोक्षहेतुत्वम्	.	.	.	२२२
साधनचतुष्टयसंपत्तिः	.	.	.	२२३
कुटीचकधर्माः	.	.	.	२२४
संन्यासिनां चातुर्विध्यं धर्मश्च	.	.	.	२२५
कुटीचकानां जपयज्ञादि	.	.	.	२२६
योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयम्	.	.	.	२२७
परिव्राजकैः कर्तव्यनिरूपणम्	.	.	.	२२८
वासस्थाने नियमः	.	.	.	२२९
आत्मज्ञानवतः स्थितिः	.	.	.	२३०
आरूढपातित्ये प्रत्यवायः	.	.	.	२३१
विष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तनम्	.	.	.	२३३

१७. संन्यासोपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

संन्यासविधिः	.	.	.	२३६
--------------	---	---	---	-----

द्वितीयोऽध्यायः

संन्यासाधिकारी	२३९
पतितलक्षणम्	२३९
संन्यासानधिकारिणः	२३९
संन्यासस्वीकारप्रकारः	२४०
संन्यस्तपुरुषस्तवः	२४०
दण्डपरिग्रहः	२४१
दण्डलक्षणम्	२४१
क्रमण्डलुपरिग्रहः	२४१
संन्यासिनां चातुर्विध्यम्	२४२
वैराग्यसंन्यासी	२४२
ज्ञानसंन्यासी	२४२
ज्ञानवैराग्यसंन्यासी	२४३
क्रमसंन्यासी	२४३
षड्विधसंन्यासः	२४३
कुटीचकः	२४३
बहूदकः	२४३
हंसः	२४३
परमहंसः	२४४
तुरीयातीतः	२४४
अवधूतः	२४४
प्रत्यग्रहैक्यभावना	२४४
चित्तिशक्तिः तत्स्तुतिश्च	२४६
अभेदानुभवः	२४७
आतुरसंन्यासः संन्यासिनां प्राप्यस्थानानि च	२५१
संन्यासिभिः स्वरूपानुसन्धानं विना नान्यत्किमपि कार्यम्	२५२

तेषां चर्यादिकम्	२५३
यतीनां वर्ज्यानि	२५६
षड्यतिपातकानि ; पातित्ये दोषनिरूपणं च	२५६
नामधेयपदसूची	२६१
विशेषपदसूची	२६३



अवधूतोपनिषत्

सह नावतु—इति शान्तिः

अवधूतजिज्ञासा

अथ ह साङ्कृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ ।

भगवन् कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्म किं संसरणमिति ।

तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः ॥ १ ॥

गौणमुख्यावधूताल्लिङ्गदयाम्बुजवर्ति यत् ।

तत्त्रैपदब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्त्यं अवधूतोपनिषत् अवधूतचर्याप्रकटनव्यग्रा
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते ।
साङ्कृतिदत्तात्रेयप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकाम-
वतारयति—अथेति । किमिति—भगवन्निति । साङ्कृतिप्रश्नोत्तरं भगवानाह—
तमिति । भगव इत्यत्र भव इति पाठस्वीकारे, भवतीति भवो भगवान् इति
व्युत्पत्तिः ॥ १ ॥

अवधूतशब्दस्याक्षरार्थः

अक्षरत्वाद्वारेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात् ।

तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥ २ ॥

अवधूत इत्यक्षरार्थमाह—अक्षर इति ॥ २ ॥

गौणावधूतचर्या

यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा ।

अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥ ३ ॥

मुख्यावधूतः परमात्मेत्युक्त्वा स्वातिरिक्तनिवृत्तिप्रधानगौणावधूतचर्यामाह—य इति ॥ ३ ॥

प्रियादिवृत्तेः पक्षित्वेन वर्णनम्

तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः ।

प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते^१ ॥ ४ ॥

गोवालसदृशं शीर्षं नापि मध्ये न चाप्यधः ।

ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत् ।

एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ५ ॥

तत्प्रियादिवृत्तिं पक्षित्वेन वर्णयति—तस्येति । योऽवधूत इति ख्यातस्तस्य साधनसम्पत्तिजं प्रियं हर्षं शिरः कृत्वा समाहितावस्थायां यो हर्षः स मोदो दक्षिणपक्षत्वेन चिन्त्यः । अखण्डाकारवृत्तिजः प्रमोद उत्तरपक्षत्वेन ध्येयः । निर्विकल्पसमाधिजो यः आनन्दः स आत्मा ; स एव गोष्पदायते प्रियमोदप्रमोदानन्दरूपेण चतुर्धा भिद्यते ॥ तत्र शीर्षं साधनसंपत्तिजहर्षं स्वात्मबुद्धिं न कुर्यात् । न चाप्यधः दक्षिणोत्तरपक्षोपमे समाहितचित्ताखण्डाकारवृत्तिरूपे मोदे प्रमोदे च स्वात्मबुद्धिं न कुर्यात् । तथा मध्येऽपि निर्विकल्पकसमाधिजानन्दे स्वात्मधियं त्यजेत् । तथा चेदात्मधीः कुत्र कार्येत्यत्र यद्गोवालसदृशं किंचिदवशिष्टं

^१ उ, उ १. गोष्पदाकृतिः

तद्ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत् । यत्प्रियाद्यवयवकल्पनाधिकरणं तद्गतहेयांशापाये यदवशिष्यते तन्निरधिकरणं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं स्वावशेषधिया ध्यायेदित्यर्थः । एवमेकं चतुर्धा विभज्य पुनस्तदारोपापवादाधिकरणं निरधिकरणं ब्रह्म स्वमात्रमिति ये जानन्ति ते तज्ज्ञानसमकालं तन्मात्रावशेषलक्षणां परमां गतिं विदेहमुक्तिं यान्ति विदेहमुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ ४, ५ ॥

ज्ञानस्य उत्कर्षः

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥ ६ ॥

कर्मादिभिरपि कैवल्यमाप्तुं शक्यते किं ज्ञानेनेत्यत आह—नेति । “कर्मणा बद्धयते जन्तुः किं प्रजया करिष्यामः” “मा गृधः कस्य चिद्धनम्” इति च श्रुत्यनुरोधेन ब्रह्मातिरेकेणापहोतव्यैः कर्मप्रजाधनैः केऽप्यमृतत्वं नानशुः । किन्तु तत्सर्वत्यागेन ब्रह्मातिरिक्तं नेति इति स्वातिरिक्तसामान्यसंन्यासेन सम्यज्ज्ञानात्मना अमृतत्वं विदेहकैवल्यमानशुः प्राप्नुयुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

अवधूतचर्यानुक्रमणम्

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम् । साम्बरा वा दिगम्बरा वा ।

न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ । सदा सांग्रहण्येष्टचाश्वमेध-

मन्तर्यागं यजते । स महामखो महायोगः ॥ ७ ॥

अवधूतचर्यामनुक्रामति—स्वैरमिति । श्रुतिस्मृतिशिष्टाचाराविरोधेन स्वच्छन्दं स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणं यदृच्छ्यागतभिक्षादिदेहधारणमात्रोपयोगिपरिग्रहपूर्वकं स्वाज्ञलोकोन्मादनप्रवृत्तिनिरासकं तत्संसरणमटनमित्यर्थः । केचन अवधूतचित्तमलाः सन्तः साम्बरा वा दिगम्बरा वा भवन्ति । न तेषां धर्माधर्मौ विद्येते, प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुस्वाज्ञानवैरल्यात् । तथा तददृष्ट्या न मेध्यामेध्यौ भवतः केवलब्रह्ममात्रदृष्टित्वात् । तादृशः किं करोतीत्यत्राह—सदेति । ब्रह्मैव सर्वं ब्रह्माति-

रिक्तं न किञ्चिदस्ति इति यया सम्यग्ज्ञानवृत्त्या गृह्यते सा संप्रहणी, सैव सांप्रहणी ।
तया सांप्रहण्येष्टया जुष्टं श्वः परश्वो वा स्वातिरिक्तपशुमेधनं विशसनमपह्वं कर्तव्यं
इत्यत्र यद्विलम्बनासहं तदेवाश्वमेधमन्तर्यागं विद्वान् यजते सदा सर्वापह्ववसिद्धं ब्रह्म
निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति तन्मात्रतया अवतिष्ठते ॥ ७ ॥

महाव्रतम्

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म स्वैरं न विगायेत् । तन्महाव्रतम् ।

न स मूढबलिष्यते ॥ ८ ॥

यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः ।

तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः ॥ ९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

स एव कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म अहमेतादृश इति येन केनापि स्वैरं स्वच्छन्द-
शीलं जात्वपि न विगायेत् इति यत् तत् महाव्रतम् । यदि कदाचित् बहिष्ठ-
प्राण्यदृष्टानुरोधेन स्वशीलं विगायेत्तदाऽयं न स मूढबलिष्यते । तदेव सदृष्टान्तं
प्रपञ्चयति—यथेति ॥ युगपत्सर्वकामाशनेऽपि न वर्धते न हीयते स्वयं अविकृतः
सन् स्वातिरिक्तशान्तिं भजतीत्याह—आपूर्यमाणमिति । अपरिच्छिन्नविषयसेवया
योगी मुच्यते न तथा कामी परिच्छिन्नविषयसेवयापि हीयते इत्यर्थः ॥ ८-१० ॥

परमार्थसमुद्देशः

न निरोधो न चोत्पत्तिर्बद्धो न हि न साधकः ।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ११ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धयै मुक्तेश्च सिद्धये ।

बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ १२ ॥

तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
 दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥ १३ ॥
 परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ।
 अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥ १४ ॥
 सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ।
 व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ॥ १५ ॥
 येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ।
 निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥ १६ ॥
 द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।
 गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
 नान्यारोपितसंसारधर्मानिवमहं भजे ॥ १७ ॥

यत् परमार्थसत् तदुपदिशति—नेति । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रे स्वाति-
 रिक्तप्रपञ्चोत्पत्तिप्रलयादिकं कुतः संभवति ब्रह्म निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते इत्यर्थः ॥
 एवं दत्तात्रेयमुखतः परमार्थतत्त्वं स्वावशेषधियावगम्य तदनुज्ञया तन्निष्ठो भूत्वा
 स्वाज्ञलोकानुकम्पया सर्ववेदान्तसिद्धान्तः प्रकटयितव्य इति स्वानुभवं स्वधन्यतां
 च प्रकाशयामासेत्याह—ऐहिकेति ॥ तव कृतार्थत्वेन संसारानुवर्तने का हानिरित्यत्र—
 दुःखिन इति ॥ तथापि यत्किञ्चित् कर्म त्वया अनुष्ठेयं इत्यत्र—अनुतिष्ठन्त्विति ॥
 किं च—व्याचक्षतामिति ॥ ११-१७ ॥

श्रृण्णादिविधानम्

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
 मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ १८ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये ।

देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ १९ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।

विपर्यासं चिराम्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ २० ॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।

कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्वचानसहस्रतः ॥ २१ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्वचानमस्तु ते ।

अवाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २२ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।

विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ २३ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।

कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥ २४ ॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।

ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ २५ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।

शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥ २६ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।

तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वान्नायमस्तकम् ॥ २७ ॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।

साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ २८ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्यप्राप्ततया पुनः ।
 तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥ २९ ॥
 धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
 धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ३० ॥
 धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
 धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं कापि ॥ ३१ ॥
 धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
 धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ३२ ॥
 धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
 धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ३३ ॥
 अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
 अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ३४ ॥
 अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।
 अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥ ३५ ॥

श्रवणाद्यकर्तव्यतामप्याह—शृण्वन्त्विति । कथं वर्तसे इत्यत्र—देवार्चनेति ॥
 किमिति—धन्योऽहमिति ॥ पालयितं पलायितमिति पक्षद्वयम् ॥ स्वानुभवं प्रकटयित्वा
 साङ्कृतिर्भगवतानुज्ञातो भगवन्तं हृदये कृत्वा यथासुखं विचचारेत्यर्थः ॥ १८-३५ ॥

विद्यापठनानुसन्धानफलम्

य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति । सुरापानात्पूतो
 भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति ।

कृत्याकृत्यात्पूतो भवति । एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयात् ।

ओं सत्यम् । इत्युपनिषत् ॥ ३६ ॥

ग्रन्थतोऽर्थतश्चैतद्विद्यापठनानुसन्धानफलमाह—य इति । यथावत् एवं विदित्वेति । लोकोन्मादननिरासकोऽयमस्य स्वेच्छाचारः तस्यापि प्राप्य-दृष्टायत्तत्वात् वस्तुतो न ह्यस्य प्रवृत्तिः निवृत्तिर्वास्ति ब्रह्मनिष्ठस्य निष्प्रतियोगिक-ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वात् ब्रह्मैवायमित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः अवधूतोपनिषत्परि-समाप्त्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

अवधूतोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।

अवधूतोपनिषदः पञ्चाशद्ग्रन्थसंयुता ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रत्रिवरणे एकोनाशीतिसंख्या-

पूरकमवधूतोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

आरुण्युपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

पारिव्राज्यलक्षणम्

आरुणिः प्राजापत्यः प्रजापतेर्लोकं जगाम । तं गत्वोवाच ।
केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विसृजानीति । तं होवाच प्रजापतिः ।
तव पुत्रान्भ्रातृन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च
भूलोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं च अतल-
वितलसुतलपातालरसातलतलातलमहातलब्रह्माण्डं च विसृजेत् ।
दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत् शेषं विसृजेत् । इति ॥ १ ॥

आरुणिकाख्योपनिषत्ख्यातसंन्यासिनोऽमलाः ।

यत्प्रबोधाद्यान्ति मुक्तिं तद्ब्राम्हणं मे गतिः ॥

इह खल्वारुणिकोपनिषदः सामवेदप्रविभक्तत्वेन केनछान्दोग्ययोः विख्यातो-
पोद्धातप्रकरणमत्रापि स्मर्तव्यम् । आरुणिप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका
विद्यास्तुत्यर्था । आरुणिः प्रजापतिं पारिव्राज्यलक्षणं पृच्छतीत्याह—आरुणिरिति ।
अरुणस्यापत्यमारुणिः प्रजापतिशिष्यः प्राजापत्यः प्रजानां पालयितुः प्रजापतेर्लोकं
जगाम गतवान् । तत्रापि तं प्रजापतिं गत्वा विनयेनोपसङ्गम्योवाच । किमिति—हे

भगवन् प्रजापते केनोपायेन अहं सर्वकर्माण्यशेषतो विसृजानि निःशेषं त्यजेयं
 इत्यारुणिना पृष्ठः प्रजापतिः एवमुवाचेत्याह—तमिति । य एवं पृष्ठः कर्माण्यशेषतो
 विसृजानीति तं प्रजापतिर्होवाच किल । किमिति—तव पुत्रभ्रातृश्वशुरस्यालादिबन्धु-
 जनान् शिखां यज्ञोपवीतं यागं तदुपलक्षितसर्वकर्म स्वसूत्रगोत्रादिकं स्वाध्यायं
 स्वशाखादिवेदांश्च भूलोकादिमहातलान्तलोकविशिष्टं ब्रह्माण्डं च स्वातिरिक्तधिया
 विसृजेत् । चकारात् स्वेन त्याजनीयपुत्रादिब्रह्माण्डान्तं स्वोपभोगतया अस्ति
 नास्तीति विभ्रममपि संत्यजेदिति द्योत्यते । लोकोन्मादप्रवृत्तिनिरसनाय स्वोपभोगार्थं
 वा दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिग्रहेत् । तदितरत् यद्यत् ग्राह्यत्वेन मन्यते लोकः
 तच्छेषमशेषं विसृजेत् । आवृत्त्या यद्यत् त्यक्तं स्वातिरिक्तधिया तत्तत् स्वप्नेऽपि न
 परिग्रहेत् इति द्योत्यते ॥ १ ॥

संन्यस्यमानस्य कर्तव्यानि

गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समा-
 रोपयेत् । गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत् । उपवीतं भूमावप्सु
 वा विसृजेत् । कुटीचको ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत् । पात्रं विसृजेत् ।
 पवित्रं विसृजेत् । दण्डाँल्लोकाग्नीन् विसृजेत् इति होवाच । अत
 ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत् । ऊर्ध्वगमनं विसृजेत् । औषधवदशन-
 माचरेत्^१ । त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत् । संधिं समाधावात्मन्याचरेत् ।
 सर्वेषु^२ वेदेष्वावरणमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेत् । खल्वहं
 ब्रह्मसूत्रं, सूचनात् सूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेवं विद्यात् । त्रिवृत्सूत्रं
 त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद ॥ २ ॥

^१ उ १. 'औषधवदशनमाचरेत्' इति नास्ति.

^२ उ १. 'वेदेष्वावरण-

“कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।

यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥”

इत्यादिश्रुतेः यदि परिव्रजनाधिकारी गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा भवतु तदा ते स्वस्वाश्रमोचितालौकिकाम्नीन् उदराग्नौ समारोपयेत् स्वस्वाग्निमात्म-समारोपणं कुर्यात् । ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत् । चशब्दः ब्रह्मचर्याद्याश्रमे यावन्तो मन्त्रा गृहीताः तानपि त्यजेदिति विध्यर्थः । यज्ञोपवीतं “यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्” इति मन्त्रेण भूमौ वा अप्सु वा विसृजेत् । यदि कश्चित् कुटीचको ब्रह्मचारी पारमहंस्याश्रममारोढुमिच्छति तदा कुटुम्बप्रदेशं विसृजेत् । पुरा परिगृहीतजलपात्रपवित्रत्रिदण्डलोकाग्निरूढमूला-ध्यवसायानपि विसृजेदिति होवाच प्रजापतिः । यदैवं सर्वं परित्यजति तदा तत् ऊर्ध्वं मन्त्रः संकल्पः एवमेवं भवितव्यमिति । तद्विपरीतोऽमन्त्रवान् निःसंकल्पवता मनसा स्वाश्रमोचितकर्म आचरेत् । ऊर्ध्वगमनं मनोराज्यं विसृजेत् । त्रिसन्ध्यां प्रातर्मध्याह्नासायाह्नेषु यथाशक्ति स्नानमाचरेत् । “जीवात्मपरमात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या” इति,

“नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु ।

सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्विरीर्यते ॥”

इति च श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन समाधावात्मन्यन्तःकरणे प्रत्यक्परचितोः सन्धि-मैक्यमाचरेत् । न कदापि तयोर्भेदबुद्धिं कुर्यात् । सर्वेषु वेदेषु विद्यमानमारणं सा-वित्रमावर्तयेत् । यद्वा तेनास्माकं किमिति ? उपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति वीप्सया तदावर्तनं तदर्थविचारं विना क्षणमात्रमपि न स्थेयमिति द्योत्यते । सर्वोप-निषदर्थब्रह्मसूत्रमहमेव खलु ब्रह्म । सूत्रार्थं श्रुतिः स्वयमेवाह । सर्वेषु वेदेषु निष्प्रति-योगिकतया ब्रह्ममात्रस्यैव सूचनात् यत् सूत्रं तदेव ब्रह्मसूत्रमहमेवेति विद्याद्यएवं वेद । स विद्वान् त्रिवृत्सूत्रं यज्ञोपवीतं तदुपलक्षितप्रपञ्चजातं स्वातिरिक्तधिया संत्य-जेत् न पुनः स्मरेदित्यर्थः ॥ २ ॥

संन्यासमन्त्रलिङ्गविध्यादि

संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । सखा मा गोपायोजः सखा योऽसीन्द्र-
स्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण कृतं
वैणवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेत् । औषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं
प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात् । ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं
च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥ ३ ॥

केन मन्त्रेण संन्यासः कर्तव्यः ? किं वा संन्यासलिङ्गं ? तदनुष्ठेयविधिर्वा
कीदृशः ? इत्याशङ्क्याह—संन्यस्तमिति । यदि विद्वान् मुनिस्तदा नारदपरिव्राज-
कोपनिषच्चतुर्थोपदेशोक्तरीत्या कृच्छ्रप्रायश्चित्ताष्टश्राद्धसप्तकेशविसर्जनपूर्वकक्षौरस्नान-
गायत्र्यादिमन्त्रग्रामस्वशाखोपसंहरणपुरुषसूक्तविरजाहोमाभ्युपसंहारपूर्वकं नाभिदध्ना-
दकमुपविश्य यद्यत् गायत्र्यादि स्वाधीतं तत्तत्सर्वं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा “अहं
वृक्षस्य”, “यश्छन्दसां”, इति मन्त्रोच्चारणपूर्वकं देवब्राह्मणसन्निधौ स्वयमुत्तरां
दिशमवलोकयन्, देवब्राह्मणा यूयं शृण्वन्तु दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेश-
णायाश्च व्युत्थितोऽहमस्मीति विज्ञाप्य “ॐ भूः संन्यस्तं मया” इत्यादि प्रातिस्वि-
केन व्याहृतित्रयमुच्चार्य कृत्स्नमपि संन्यस्तं मयेति चोच्चार्य मन्त्रमध्यमताडनध्वनिभिः
एवं निर्भयः सन् त्रिवारोद्घोषणपूर्वकं “अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते
स्वाहा” इति मनुना जलं प्राश्य, ततः प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिप्य “ॐ स्वाहा”
इत्यवशिष्टकेशानुत्पाद्य “यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्” इति मन्त्रेण यज्ञोपवीतं
छित्त्वा “ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा” इत्यप्सु जुहुयात् । ततः पुनः प्रैषं त्रिवार-
मुच्चेत् । यद्यत् स्वातिरिक्तत्वेनाभिमतं तत्तत्सर्वं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रधिया मया
संन्यस्तं सम्यक् त्यक्तम् । आवृत्तिरादरार्था । एवं ब्रह्मादिस्तम्बान्तसर्वभूतेभ्योऽभयं
मया दत्तं तथा सर्वभूतैरपि मह्यमिति प्रतिज्ञाय जातरूपधरः सन् शतपदमुदीचीं
दिशं गच्छेत् । ततो गृहस्थप्रार्थनया गुरुनिकटमागत्य तैर्दत्तकटिसूत्रकौपीनशाटिक-

मण्डलुदण्डादिकं तत्तन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं गृहीत्वा, अथ गुरोः सकाशात् प्रणव-
महावाक्यादिकं स्वीकृत्य स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्यर्थः । “ सखा मा गोपाय ” इति
दण्डग्रहणमन्त्रः । उक्तलक्षणलक्षितोऽयं दण्डो वैराजरूपः । तदमेदेन यः स्वांशज-
व्यष्टिजीवसखाजः इन्द्रस्य वार्त्रघ्नो वज्रोऽसि यतो मे स्वांशजत्वेन सखा असि ।
अतस्त्वं मा मां गोपाय पालयतु । अतस्त्वं मे शर्मकृत् भव त्वदर्शनात् पुरा
यन्मया कृतं पापं तन्निवारय इत्यनेन मन्त्रेण कृतं वैष्णवं दण्डं परिग्रहेत् । कौपीन-
परिग्रहणं कटिसूत्रकमण्डलुशाक्याद्युपलक्षणार्थम् । यथा यथा मेदोवृद्धिर्न जायते
प्राणोऽपि देहं न त्यजति तथा तथा औषधवदशनमाचरेत्, औषधवदेवाशनं प्राप्नी-
यात् । स्वाशनस्य गृहस्थाधीनत्वेन यथालाभमश्नीयात् । बाह्यमान्तरं चेति द्विविधं
ब्रह्मचर्यादि । तत्राष्टाङ्गमैथुनवर्जितं बाह्यम् । ब्रह्मभावमनश्चरो ह्यान्तरब्रह्मचर्यम् । तथा
हिंसां परस्वपीडाकरलक्षणां च, तथैवापरिग्रहं च प्राणसंधारणेतरापरिग्रहं बाह्यं ब्रह्मैव
स्वमात्रमिति धिया स्वातिरिक्तसामान्यापरिग्रहमान्तरं च, तथा सत्यं च प्राणिमात्र-
प्रियकरसत्यवचनं बाह्यं स्वयमेव सत्यं सन्मात्रमित्यान्तरं हे शिष्याः यूयं एतद्बाह्य-
न्तरप्रविभक्तब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहादिकं महता प्रयत्नेन रक्षत । आवृत्तिः अप्रमादेनैवा-
चरणीयमित्यवधारणार्था । रक्षतेत्यर्थे रक्षतः इति प्रयोगस्तु छान्दसः ॥ ३ ॥

संन्यासिनां आसनादिनियमाः

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनाभ्यां भूमौ ब्रह्म-
चारिणाम् । मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा । कामक्रोधलोभ-
मोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहंकारादीनपि त्यजेत् । वर्षासु ध्रुवशीलो-
ऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद्, द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् । स खलु एवं
यो विद्वान् सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत् । पितरं पुत्र-
मग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह ॥ ४ ॥

तेषामासनशयनपात्रनियममाह—अथेति । अथ गुरुपदेशानन्तरं यतः
संन्यासकाले मृद्वासनखट्वादिकं परित्यक्तं अतः । परमहंसः परमात्माहमस्मि इति

दृढनिश्चयेन स्वातिरिक्तधिया यद्यत् भातं तत्तत् सर्वं परित्यज्य ब्रह्ममात्रपदं व्रजन्तीति परिव्राजकाः । तेषां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मण्येव चरतां ब्रह्मभावमापन्नानां भूमावेव आसनं शयनं च आसनशयने ताभ्यामेव देहयात्रा संभवति, न मृदास्तरण-शय्याकाङ्क्षास्ति । “महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत्” इति, “शय्या भूतलमजिनं वासः” इति च श्रुतेर्भाष्यकारोक्तेश्च । तेषामुदकाहरणार्थं कमण्डलुस्थानीयं मृत्पात्र-मलाबुपात्रं दारुपात्रं वा भवति । तत्र मृत्पात्रासंभवे अलाब्धादिपात्रं वा ग्राह्यं, न तु लोहविकारमित्यर्थः । कदाचिदपि स्वोपस्करविषये यदि प्रसक्त्यं कामक्रोधादिवृत्तिः तन्निःशेषं संत्यजेदित्यर्थः । प्राणिर्हिंसानिवृत्त्यर्थं वर्षासु चातुर्मास्यनियमपुरस्सरं यतिः एकत्र स्वयोग्यप्रदेशे ध्रुवशीलः स्थिरासनो भवेत् । शिष्टाष्टौ मास्येकाकी यतिश्चरेत् । यद्वा—“पक्षा वै चतुरो मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत्” इति श्रुत्यनुरोधेन मासचतुष्टयनियमं विहाय यावाषाढश्रावणमासौ तौ द्वावेवाचरेदिति । आवृत्तिः अवधारणार्था । एकत्र मासचतुष्टयवसनात् तत्रत्यानां श्रमो भवेदिति दययेत्यर्थः । यो यद्येवं परिव्राज्येयत्तां विद्वान् भवति तदा सोऽयमुपनयनादूर्ध्वं उपनयनात् प्राग्वा हस्तामलकाचार्यवज्जातमात्रेण विदिततत्त्वश्चेत् संन्यसेत् । यदि गार्हस्थ्यदशायां संजातविरागः संन्यस्तुमिच्छति तदानीमेव पितरं पुत्रमभ्युपवीतं कर्मार्थस्वीकृत-कलत्रं च, पुनरन्यदपि यद्यत् स्ववन्धहेतुत्वेन द्योत्यते तदपि संत्यजेत् संन्यसे-दित्यर्थः ॥ ४ ॥

भिक्षानियमाः

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम्, उदरपात्रं वा ॥५॥

तेषां भिक्षानियममाह—यतय इति । “यतयो भिक्षार्थमेव व्यङ्ग्यो भुक्त-वज्जने” इति श्रुतिसिद्धयथोक्तकाले ग्रामं प्रविशन्ति, न तदतिरिक्तकाले । तैः पाणिपात्रं उदरपात्रं वा शारीरस्थित्यर्थमङ्गीकृतम् । यावज्जीवं तेनैव कालं नयन्ति ॥ ५ ॥

भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रः

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत् । विद्वान्य
एवं वेद ॥ ६ ॥

भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रमाह—ॐ हीति । ॐ हि ॐ हि ॐ हि इति मन्त्रेण सूर्यमण्डलस्थात्मानुसंधानं कुर्वन् अथ ग्रामं प्रविशेदित्यर्थः ।

“पाणिपात्रश्चरन् योगी नासकृद्वैक्षमाचरेत् ।
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात् सर्वेषु सोऽऽतत्त्वाय कल्पते ॥”

इति श्रुतेः । य एवमेतदुपनिषदं वेद यथावद्विद्वान् विन्यसेत् विद्वत्संन्यासं कुर्यात् ॥ ६ ॥

विद्वत्संन्यासाधिकारः

पालाशं वैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च
त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद ॥ ७ ॥

किं कृत्वा संन्यसेदित्यत आह—त्यक्त्वेति । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा क्रमेण पालाशं वैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतम् । चशब्दः एतत् सर्वं त्यक्त्वा विन्यसेदिति पूर्वैर्णान्ययः ॥ ७ ॥

उपसंहारः

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ८ ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ इति ॥ ९ ॥

एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम् । इत्युपनिषत् ॥

य एवं वक्ष्यमाणं विष्णुपदं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति वेद सोऽयं स्वाति-
रिक्ताविद्यापदतत्कार्यापह्नवीकरणदक्षत्वेन शूरो भूत्वा तुन्मात्रतया अवशिष्यते

इत्युपसंहरति—तदिति । तदेतन्निर्दिशेष्टं ब्रह्म स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्वाविद्यापद-
 तत्कार्यप्रसक्तौ तदारोपापवादाधिकरणतया विभातस्य विष्णोः व्यापनशीलस्य
 त्रिविधपरिच्छेदशून्यस्य स्वाधिष्ठेयाविद्यापदतत्कार्यपवादसपेक्षताधिकरणासंभव-
 प्रबोधसिद्धत्वेन परमं निरधिकरणतया सर्वोत्कृष्टं नित्यसूरिभिः ब्रह्मविद्वरिष्ठैः ।
 स्वमात्रतया पद्यत इति पदं तद्विष्णोः परमं पदम् । ‘राहोः शिरः’ इतिवत् विष्णु-
 याथात्म्यं सूरयो ब्रह्मविद्वरिण्यांसः सदा निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यन्ति ।
 पश्यन्तीतिव्यपदेशात् विष्णुपदस्य दृश्यत्वेन परिच्छिन्नता स्यादित्यत आह—दि-
 वीति । दिवि द्योतनात्मके ब्रह्मणीव चक्षुर्दृष्टिः दर्शनं तद्गोचरज्ञानमाततममपरिच्छिन्नं
 तद्विष्णुपदं निष्प्रतियोगिकपूर्णं स्वभेदेन सूरयः पश्यन्ति चेत् तत्परिच्छेदं
 भवितुमर्हति । न हि तथा ते पश्यन्ति किं तु स्वयमेव विष्णुपदं पश्यन्तीत्यर्थः ।
 किंविशेषणविशिष्टाः सूरयः ? तद्दर्शनतस्तन्मात्रतया विशिष्यन्त इत्यत आह—
 तदिति । विप्रासः विप्राः ब्रह्मविद्वरिष्टाः ब्राह्मणाः विपन्यवो विगतस्वातिरिक्ता-
 लाभप्रयुक्तमन्यवः, स्वातिरिक्तस्य स्वमात्रतया लब्धत्वात् । अत एव ते
 जागृवांसः स्वाज्ञाननिद्रावैरल्यात् नित्यं जागरूकाः । विष्णोर्यत् परमं पदं
 स्वमात्रतया पश्यन्ति तद्दर्शनसमकालं एते तन्मात्रावशेषतया तद्विष्णुपदं समिन्धते
 तन्मात्रतया अवशिष्यन्ते । इत्येवं निर्वाणस्य कैवल्यस्य अनुशासनं वेदानु-
 शासनम् । वेदानुशासनमिति द्विरुक्तिरादरार्था । इत्युपनिषच्छब्दावारुणिकोप-
 निषत्परिसमाप्त्यर्थौ ॥ ८-१० ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्याद्विवरणं स्फुटमारुणिकस्य हि ।

आरुणिकविवरणग्रन्थस्तिंशोत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षोडशसंख्यापूरकं

आरुणिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

कठरुद्रोपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

ब्रह्मविद्याध्ययनम्

१देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् । अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्याम् ।

स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

पारिव्राज्यधर्मपूगालङ्कारा यत्पदं ययुः ।

तदहं कठविद्यार्थरामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तेयं कठरुद्रोपनिषत् पारिव्राज्यधर्मप्रकटन-
व्यप्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । देवता-
पटलप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामव-
तारयति—देवा इति । देवकृतप्रश्नोत्तरं स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

१ अङ्गार पुस्तकशालायां मुद्रिते संन्यासोपनिषत्कोशे अधोलिखितमधिकं प्रारम्भे
दृश्यते :—ॐ । योऽनुक्रमेण संन्यसति स संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्यास उच्यते ।
कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिः सुगुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यां पुत्रान्सुहृदो
बन्धून्नुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान्सर्वाश्च पूर्ववद्वणीत्वा वैश्वानरीमिष्टिं कुर्यात् । सर्वस्वं
दद्यात् । यजमानस्याङ्गानृत्विजः सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्येऽन्वाहार्यपचने
सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान् सर्वेषु समारोपयेत् । सशिखान्केशान्निष्कृष्य,
विसृज्य यज्ञोपवीतं, निष्क्रम्य, पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत् । यद्यपुत्रो

ब्रह्मविद्याङ्गसंन्यासनिरूपणम्

सशिखान् केशान्निष्कृष्य, विसृज्य, यज्ञोपवीतं निष्कृष्य,
ततः पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोकारस्त्वं स्वाहा
त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता । अथ पुत्रो वदति । अहं ब्रह्माहं
यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं
त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति । तान्येतानि अनुव्रजन्नाश्रुमापातयेत् ।
यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्ध्यात् । प्रदक्षिणमावृत्यैतच्चैतच्चानवेक्षमाणः
प्रत्यायति^१ । स स्वर्ग्यो भवति ॥ २ ॥

किमिति । अत्र ब्रह्मविद्याङ्गसंन्यासं निरूपयति—सशिखानिति ।
ब्रह्म वेदः यज्ञवषट्कारादिकं मयानुष्ठितमननुष्ठितं वा तच्छेषपूरणं त्वदधीनमिति
पित्रोक्तस्तथेत्याह—अथेति । भवता अधीतमनधीतं वा वेदादिकं तच्छेषपूरणं

भवत्यात्मानमेवं ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् । चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यं
चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधवत्प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न
जायते । कृद्धीभूत्वा ग्राम एकरात्रं, नगरे पञ्चरात्रं, चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वा नगरे वापि
वसेत् । विहीर्णं वस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्य नान्यत्प्रतिगृह्णीयात् । यद्यशक्तो भवति येन
क्लेशसहः स तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यसति यो वा व्युत्तिष्ठति किमस्य
यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच । इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं
यदात्मध्यानं, या विद्या सा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयेन्नोदपात्रे । जलतीरे
निकेतनं हि ब्रह्मवादिनो वदन्ति । अस्तमित आदित्ये कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच ॥

यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तम् न वा दिवा । तदप्येतद्विषणोक्तम् । संकृद्दिवा है वास्मै
भवति । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते संधत्ते ॥

देवा ह वै समेत्य प्रजापतिमब्रुवन् । न विदामो न विदाम इति । सोऽब्रवीद्ब्रह्मिष्ठेभ्यः ।
मे तद्वदतो ज्ञास्यथेति । ततो वै ते ब्रह्मिष्ठा न वदन्तो न वदन्त इत्येतत्सर्वम् । देवानां
सार्धितां सालोक्यतां सायुज्यतां गच्छति य एवं वेद ॥

^१ उ १. प्रत्यायन्ति.

अहं करोमीति पुत्रोक्तिमाकर्ण्य तं विसृज्य प्रव्रजनकाले तद्वियोगजाश्रुपातं सन्तति-
विच्छेदकरं न कुर्यात् । ततः किं इत्यत्र—प्रदक्षिणमिति । यः संन्यासादूर्ध्वं
स्वाधिष्ठितप्रागं स्वजनं वा प्रदक्षिणीकृत्य पुनस्तमनवेक्षमाणः प्रव्रजति स स्वर्ग्यो
ब्रह्मलोकं गतो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

संन्यासक्रमः

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य
पुत्रानुत्पाद्य ताननुरूपोपाधिभिर्वितत्य, इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य
संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च । सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं
पयसान्निहोत्रं जुहुयाद् द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात् । द्वादशरात्र-
स्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं
अग्निम् । संस्थितानि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात् । मृन्मयान्यप्सु
जुहुयात् । तैजसानि गुरवे दद्यात् । मा त्वं मामपहाय परागा नाहं
त्वामपहाय परागामिति गार्हपत्यदक्षिणाभ्याहवनीयेषु, अरणिदेशा-
द्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके । सशिखान् केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं
भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात् । अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशनमग्निप्रवेशनं
वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत् । पयसायं प्रश्नीयात्सो-
ऽस्य सायंहोमो यत्प्रातः सोऽयं प्रातः, यद्दर्शं तद्दर्शं यत्पौर्ण-
मास्ये तत्पौर्णमास्यं, यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सो-
ऽस्याग्निष्टोमः ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्याद्याश्रमाचारप्रकटनपूर्वकं क्रमसंन्यासमाह—ब्रह्मचारीति । ब्रह्म-
चर्यं समाप्याथ गुर्वनुज्ञयोद्वाह्याथ दारानाहृत्येति । तदनुरूपोपाधिभिः संन्योज्याथ

इष्ट्वा चेति । अग्नये वैश्वानराय इति मन्त्रेण संस्थितानि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात् । तत अनेन मन्त्रेण मा त्वमिति । एतज्जाबालोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ संन्यासानन्तरमुक्तलक्षणलक्षितमग्निष्टोमादिकं तन्मन्त्रं वा न पुनरावर्तयेदित्याह—
पयसेति । इत्यग्निष्टोमलक्षणमुक्तम् ॥ ३ ॥

संन्यस्तस्य कर्तव्यानि

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत् । यन्मृत्युर्जायमावहं इत्य-
ध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् । स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वा आत्मानमनन्यं
ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेदनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी
यत्किञ्चिन्न दद्यात् । लवैकं नाधावयेत् जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जम्
इति । तदपि श्लोका भवन्ति ॥ ४ ॥

कुण्डिकां चमसं शिष्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।

शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ ५ ॥

पवित्रं स्नानशार्दीं च उत्तरासङ्गमेव च ।

यज्ञोववीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६ ॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत् ॥ ७ ॥

नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ।

स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८ ॥

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत् इत्यादि निन्दितो न शपेत् परान् इत्यन्तं
कुण्डिकोपनिषदि प्रायशो व्याख्यातम् ॥ ४-८ ॥

ब्रह्मचर्यलक्षणम्

ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मत्स्फरी ।

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥ ९ ॥

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ।

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १० ॥

विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।

ब्रह्मचर्येण सदा स्थेयं इत्याह—ब्रह्मचर्येणेति । किमिदं ब्रह्मचर्यम् इत्यत आह—दर्शनमिति । रागेण स्त्रीदर्शनमित्यादि ॥ ९-१० ॥

ब्रह्मचर्यस्य फलम्

^१यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥ ११ ॥

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः ।

प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्यपरिष्कृतज्ञानफलात्मा कीदृशः इत्यत आह—यदिति ॥ प्रत्य-
ग्रूपेण स एव जगतः साक्षी ॥ ११, १२ ॥

ब्रह्मभावापत्तेः ज्ञानायत्तता

न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित् ।

ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः ॥ १३ ॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावापत्तिः ज्ञानायत्ता नान्यायत्तेत्याह—न कर्मणेति ॥ १३ ॥

^१ यज्जगद्भासकमित्यारभ्य आसमाप्ति अङ्गार पुस्तकशालायां मुद्रिते कोशे न दृश्यते.

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् ।
 संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ॥ १४ ॥
 निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते ।
 सोऽश्नुते सकलान् कामानक्रमेण द्विजोत्तमः ॥ १५ ॥
 प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम् ।
 एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १६ ॥
 ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात् ।
 अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत् ॥ १७ ॥
 आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः ।
 वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा ॥ १८ ॥
 तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा ।
 तेभ्य एव विसृष्टं तत् ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ॥ १९ ॥
 ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः ।
 मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः ॥ २० ॥
 अस्थिस्राव्यादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम् ।
 योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः ॥ २१ ॥
 ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ।
 ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ॥ २२ ॥
 ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ।
 आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ॥ २३ ॥

योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु ।
 मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥ २४ ॥
 ततो मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु ।
 आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखी ॥ २५ ॥
 तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्येन साक्षिणा ।
 सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥ २६ ॥
 यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् ।
 सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम् ॥ २७ ॥
 सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः ।
 असत्यस्मिन् परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् ॥ २८ ॥
 को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते ।
 तस्मात् सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ॥ २९ ॥
 आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः ।
 यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ॥ ३० ॥
 निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः ।
 तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥ ३१ ॥
 सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम् ।
 यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥ ३२ ॥
 विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ।
 अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः ॥ ३३ ॥

भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु ।

तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः ॥ ३४ ॥

स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति पदे यथा ।

निमित्तं किञ्चिदाश्रित्य खलुशब्दः प्रवर्तते ॥ ३५ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः ।

निर्विशेषपरानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते ॥ ३६ ॥

तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम् ।

यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च ॥ ३७ ॥

व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु ।

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्धनम् ॥ ३८ ॥

विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन ।

एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥ ३९ ॥

स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः ।

तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत् ॥ ४० ॥

प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।

कीदृशं ब्रह्मेत्यत्र तद्विद्याविषयं ब्रह्म इत्यादिना आनन्दवल्ल्यर्थं स्पष्टी-
करोति । “ब्रह्मविदामोति परम्” इति सूत्रवाक्यं “न कर्मणा” इति वाक्येन
स्पष्टीकृतम् । तद्वृत्तिस्थानीय—“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति वाक्यमपि
“तद्विद्याविषयं ब्रह्म” इति वाक्येन स्पष्टीकृत्य, “यो वेदं निहितं गुहायाम्”
इत्यादि संसारे च इति वाक्यैः स्पष्टीकरोति—संसार इत्यादिना ॥ “यज्जगद्भा-
सकं भानम्” इत्यादि “ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात्” इत्यन्तं आनन्दवल्लीव्याख्या-
नेनैव व्याख्यातं स्यादिति मन्तव्यम् ॥ १९-४० ॥

एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः सप्तधा भेदः

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥ ४१ ॥
 प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ।
 इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ॥ ४२ ॥
 मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते ।
 मायासम्बन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥ ४३ ॥
 अन्तःकरणसम्बन्धात् प्रमातेत्यभिधीयते ।
 तथा तद्भूतिसम्बन्धात् प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ४४ ॥
 अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते ।
 तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥ ४५ ॥
 सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः ।

एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः सप्तधा भेदः स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितः इत्याह—
 शुद्धमिति ॥ श्रुतिः स्वकृतसूक्तवाक्यं स्वयमेव विवृणोति—मायेति । स्वाति-
 रेकेण मायास्ति नास्तीति विभ्रमासंभवप्रबोधसिद्धं शुद्धमित्यभिधीयते ॥ स्वाज्ञान-
 तानवतारतम्यानुरोधेन सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् ॥ ४१-४५ ॥

विधाफलम्

एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४६ ॥
 सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।
 स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥ ४७ ॥
 इत्युपनिषत् ॥

विद्याफलमाह—एवमिति । स मुनिर्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ सर्ववेदान्त-
सिद्धान्तसारं प्रकटयन्नुपसंहरति—सर्वेति । किं तत् इत्यत आह—स्वयमिति ।
स्वदेहादौ रूढमूलं स्वभावमहंभावं मृत्वा मृतीः नीत्वा स्वात्मनि विलाप्य
तद्विलापनाधिकरणं स्वयं भूत्वा अधिष्ठेयसापेक्षाधिकरणतापाये निष्प्रतियोगिकं
निरधिकरणतया स्वयमेवावशिष्यते इत्यत्र—

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः ।

स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥

इति ॥ इत्युपनिषच्छब्दः कठोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ४६, ४७ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्याद्विवरणं कठोपनिषदो लघु ।

कठोपनिषदो व्याख्या द्विषष्टिप्रन्थसंयुता ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्र्यशीतिसंख्यापूरकं
कठोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

कुण्डिकोपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

संन्यासपरिग्रहात्पूर्वं कर्तव्यानां अनुक्रमणम्

¹ ब्रह्मचर्याश्रमेऽक्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः ।

वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः ।

ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥

¹ अङ्घारं पुस्तकशालायां मुद्रिते संन्यासोपनिषत्कोशे अधोनिर्दिष्टमाधिकं दृश्यतेः—

ॐ अथाहिताग्निर्घ्रियेत प्रेतस्य मन्त्रैः संस्कारोपतिष्ठते । स्वस्थो वाश्रमपारं गच्छेयमित्ये-
तान्पितृमेधिकानोषधिसंभारान्संभृत्यारण्ये गत्वामावास्यायां प्रातरेवाग्नीनुपसमाधाय पितृभ्यः
श्राद्धतर्पणं कृत्वा ब्राह्मेष्टिं निर्वपेत् ॥

स सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्यैषाहुतिर्दिव्या अमृतत्वाय कल्पते ॥

इत्येवम् । अत ऊर्ध्वम्

यद्ब्रह्माभ्युदयदिवं च लोकमिदममुं च सर्वम् ।

सर्वमभिजन्तुः सर्वश्रियं दधतु सुमनस्यमाना ॥

ब्रह्म जज्ञानं [प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

स दुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥] इति ।

ब्रह्मणेऽथर्वणे प्रजापतयेऽनुमतयेऽग्नये स्विष्टकृत इति हुत्वा,

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च ।

संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः ।

स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥ ४ ॥

कुण्डिकोपनिषत्ख्यातपरिव्राजकसन्ततिः ।

यत्र विश्रान्तिमगमत्तद्रामपदमाश्रये ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्तेयं कुण्डिकोपनिषत् पारिव्राज्यधर्मप्रकटनव्यग्रा
ब्रह्मात्रविश्रान्ता विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । आख्यायिकां
विना श्रुतेरवान्तरतया प्रवृत्तिर्विद्यास्तुत्यर्था । ब्रह्मचर्येति । सत्कुलप्रसूतो द्विजाति-
ब्रह्मचर्याश्रमस्वीकरणार्थं स्वगुर्वभिमतशुश्रूषणे .रतः सन् गुरुकुलवासं कृत्वाऽथ
गुरुणोपनीतस्तन्मुखतोऽशेषवेदानधीत्य सर्ववेदार्थरहस्यमप्यवगम्य गुरोः प्रसादतः
अक्षीणे अक्षये द्विविधब्रह्मचर्यास्पदब्रह्मचर्याश्रमे लब्धेऽपि सति । ब्रह्मचर्यं समाप्य
गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यतिः श्रुत्यर्थमाननाय । अधीत्यानुज्ञात इत्यत्र

यज्ञ यज्ञं गच्छ [यज्ञपतिं गच्छ ।

स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः ।

सुवीर्यः स्वाहा ॥]

इत्यग्नावरणी हुत्वा,

ओ चित्सखायं [सख्या वृत्त्यां.....

.....

.....वित्तं मे अस्य रोदसी ॥]

इति चतुर्भिर्नुवाकैराज्याहुतीर्बुहुयात् । तैरेवोपतिष्ठते । अथ

मय्यग्रे अग्निं [गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥]

इति च द्वावग्नी समारोपयेत् । व्रतवान्स्यादतन्द्रित इति । तत्र श्लोकाः ।

द्वान्दसत्त्वादकारलुप्तः पाठोऽपि वर्तते अधीत्यनुज्ञात इति । उत्तराश्रमस्वीकरणार्थं गुरुणा अनुज्ञातः सन् अयमाश्रमी ब्रह्मचारी स्वसदृशं स्वकुलानुरूपं दारमाहृत्योद्वाह्य तथा साकं गार्हस्थ्योचितधर्मानुष्ठानं कुर्वन्नुषित्वा वानप्रस्थाश्रमं जिगमिषुः शक्तितो धैर्यतोऽग्निमाधाय वानप्रस्थाश्रमाङ्गत्वेन तासां ब्रह्मादिदेवतानां सन्तुष्ट्यर्थं ब्राह्मीं ब्रह्मदेवताकामिष्टिं यजेत् । कत्यहानि कर्तव्येयमिष्टिः इत्यत्र तासामहोरात्रेण निर्वपेत् । ततः स्वार्जितार्थं पित्रार्जितार्थं वा गोधनात्मके यथायोगं संविभज्य तवेदमस्तु तवेदमस्तु इति सुतान् प्रति दत्त्वा, निःशेषीकृतपरिकरो, ग्राम्यकामान् विसृज्य, शुचौ देशे संचरन् वनमार्गेण, वन्याश्रमोक्तविधिना वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा परिभ्रमन् तदाश्रमं समापयेत् । यदि वाय्वादिभक्षणात्तस्तदा विहितैः निर्दुष्टैः कन्दमूलैरपक्वैः पक्वैर्वा शरीरयात्रां कुर्यात् । एवं स्वशरीरमात्रे सर्वसंसारं समाप्याथ पूर्वानुभूतस्वपरिकरं स्मृत्वा पृथिव्यामश्रुपातं न कुर्यादित्यर्थः ॥ १-४ ॥

विदारस्यैव संन्यासाधिकारः

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते ।

सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५ ॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।

अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥ ६ ॥

लोकवद्भार्यया सक्तो वनं गच्छति संयतः ।

संन्यासस्य क्रमप्राप्ततया विदारः सदारो वा संन्यसेदित्यत आह—सहेति । विदारेण संन्यासः कर्तव्यः खलु, संन्यासस्य दाराधेष्णात्यागपूर्वकत्वात् । तथा सति तेनैव दारेण साकं पुरुषो वनी कथं संन्यस्तो भवेदित्युच्यते । यस्मिंस्तु सदारे सति सदारो वनीति नामधेयेन सहितः सनामधेयो भवति । स कथं संन्यस्तो भवतीत्युच्यते ॥ यस्मात् सदारस्य न संन्यासाधिकारः तस्मात् सम्यक्

स्वहितात्मनां संहितात्मनां वानप्रस्थधर्माणां ईश्वराराधनधियानुष्ठितानां फलवि-
शुद्धाङ्गी स्वकृतधर्मफलार्पणसन्तुष्टेश्वरप्रसादासादितविशुद्धचित्तो विदारो मुनिः
सर्वकर्मसंन्यासं कुर्यात् । तादृशचित्तशुद्धयभावे ब्रह्मचर्यतः चित्तशुद्धिहेतुश्रौत-
स्मार्तधर्मानुष्ठानार्थमभिवर्णं गार्हस्थ्यं प्रपद्य वानप्रस्थाश्रमारोहणचित्तशुद्धिर्वान-
प्रस्थाश्रमं पारिव्राज्यानुकूलचित्तशुद्धिप्रापकं प्रपद्यते ॥ ग्राम्यसुखेच्छाभावेऽपि
औपासनादिधर्मानुष्ठानार्थं संयतकरणग्रामो मुनिः लोकवत् भार्यया सक्त इव वनं
गच्छतीत्यर्थः ॥ ५, ६ ॥

जन्मनिवृत्त्यर्थं संन्यासपरिग्रहः

संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥ ७ ॥

किं वा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान्^१ ।

गर्भवासभयाद्धीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ।

गुहां प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयम् ॥ ८ ॥ इति ॥

किमर्थं संसारदुःखं विहाय वनी भवतीत्याशङ्क्य जन्मादिभिया सर्वं त्यक्त्वा
वनी भिक्षुर्वा भवतीत्याह—संत्यक्त्वेति । विपुलं संसारभवसुखं संत्यज्य मुधा
वनाद्वनमटति दारपुत्रादियोगजसुखदे संसारे ॥ किं दुःखमनुस्मृत्य सर्वोच्छ्रितान्
स्वक्चन्दनादिभोगांस्त्यजतीति प्राप्ते सांसारिकदुःखप्रायसुखाभासस्य क्षण-
भङ्गुरत्वेऽप्यनन्तकोटिकल्पपर्यन्तं जननमरणादिदुःखपरम्पराहेतुत्वेन व्रतिगृहि-
वन्याश्रमोचितबाह्यान्तःसंसारत्याग एव श्रेयानिति मनसि विधाय ‘हे जाये त्वया मे
यत् कर्तव्यं तत्सर्वं कृतं, पुत्रनिकटमेत्य तपश्चरन्ती ब्रह्मलोकं व्रज, इदानीमहं
शीतोष्णादिबहुदुःखास्पदगर्भवासभयात् भीतः सन् यत्परमपदसाधनं गुह्यं
निर्विशेषब्रह्मनिष्ठानुकूलसंन्यासं प्रवेष्टुमिच्छामि’ इति जायामाश्वास्य प्रेषयित्वा
विदारो यथावत् संन्यासं कृतवानित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

^१ उ १ उच्छ्रितान् .

संन्यस्तस्य न श्रौतस्मार्ताग्निसेवनम्

संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनम् ॥ ९ ॥

कृतेऽपि संन्यासे मुक्तिहेतवे इतोऽधिकचित्तशुद्ध्यर्थं वा श्रौतस्मार्ताग्निसेवनं कर्तव्यनिर्विशेषब्रह्मज्ञानजनकचित्तशुद्धेः निष्कामबुद्ध्यानुष्ठेयसत्कर्मनिमित्तादग्निसेवनं कार्यमिति तत्राह—संन्यस्येति । न ह्युत्तीर्णसरित्पारो नौकां शिरसा वहति यथा तथा संप्राप्तसत्त्वशुद्धेः संन्यासिनः कृतकृत्यस्य न हि कर्मानुष्ठानापेक्षाऽस्ति तस्य निरग्नित्वात् । यत एवमतः संन्यस्य पुनः श्रौतं स्मार्तं वाग्निं कदापि न सेवेत । एवमग्निसेवाभावेऽपि यथोक्तकाले वचसा मनसा वापि प्रधानमन्त्रस्य कृत्स्नस्य वा न कदाप्यावर्तनमाग्नेडनं स्मरणं वा कुर्यात् ॥ ९ ॥

अग्निसेवने प्रत्यवायः

यन्मन्युर्जायमावहम् इति ॥ १० ॥

एवं कृते का हानिः इत्यत्राह—यदिति । योऽहं वर्णाश्रमव्यवस्थापक-श्रुतिगणः सोऽहं मृत्युर्भूत्वा परिब्राद्धर्मविरलस्य ते पूर्वसिद्धमपि जायं जायमानं वा परापरविषयकब्रह्मज्ञानमावहं प्रविशेयं, मृत्युः प्रमादः तदस्मरणं इत्थंभूतमृत्यु-प्रस्तं ज्ञानमाभासज्ञानमज्ञानं वा भवेदित्यर्थः । यद्यत्स्वातिरिक्ततया त्यक्तं तत् कदाप्यस्ति नास्तीति वा नहि स्मरेदित्यर्थः ॥ १० ॥

चित्तशुद्ध्यर्थं प्रणवादिमहावाक्यानां आवर्तनम्

अथाध्यात्ममन्त्राज्ञपेत् ॥ ११ ॥

उत्पन्नचित्तशुद्धेः प्रयोजनाभावात् कर्म मास्तु । यद्यचित्तशुद्धः संन्यस्यति तदा तच्चित्तशुद्धये कर्म विना किं ते अस्तीत्याशङ्क्य तस्यापि न कर्मास्ति, ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि प्रैषादिमन्त्रपूर्वकं सर्वकर्मणां त्यक्तत्वात् । यद्यशुद्धचित्तस्तदा स्वाश्रमानुष्ठानमविहाय स्वचित्तशुद्धये प्रणवमहावाक्यजातमावर्तयेदित्याह—अथेति ।

अथ विविदिषासंन्यासानन्तरमध्यात्ममन्त्रान् प्रणवमहावाक्यानि ईशाद्यष्टोत्तर-
शतोपनिषदो वा स्वचित्तशुद्धये जपेत् ॥ ११ ॥

दीक्षानियमाः

दीक्षामुपेयात् । काषायवासाः । कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत् ।

^१ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति । अनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी निदिध्या-
सनं दध्यात् । पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम् ॥ १२ ॥

तदपि श्लोका भवन्ति ।

कुण्डिकां चमसं शिष्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।

शीतोपघातिनीं कंथां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ १३ ॥

पवित्रं स्नानशार्दीं च उत्तरासङ्गमेव च ।

अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ १४ ॥

नदीप्रुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः ।

नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥ १५ ॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।

स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ १६ ॥

भिक्षादि वैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।

एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ॥ १७ ॥

^२विश्वायमनुसंयोगं मनसा भावयेत् सुधीः ॥ १८ ॥

^१ उ, १. ऊर्ध्वगो बाहुः.

^२ उ १. विश्वायं.

आदेहपातं द्विविधब्रह्मचर्यदीक्षामुपेयात् । तन्नियमस्तु काषायवस्त्रधारणं, कक्षोपस्थलोमवर्जनपूर्वकं क्षौरं, संन्यासानन्तरं ऊर्ध्वबाहुः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् । व्याविद्धपूर्वाचरितसंसारभागौ भवति । यदि श्रवणध्यानानधिकारी तदा “अष्टौ मास्येकाकी यतिश्चरेत्” इति श्रुत्यनुरोधेनानिकेतश्चरेत् । एकान्तत्यागपूर्वकं माधूकरादिवृत्त्या भिक्षाशी । यदि श्रवणाद्यधिकारी तदा अबाधकसत्सेवितपुण्यस्थले वसन् संशयादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणमननं निदिध्यासनं च कुर्वन्, तत्फलीभूतार्थं सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति दध्यात् ध्यायेत्, जन्तुसंरक्षणार्थम् “सर्वं खल्विदं ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति श्रुत्यनुरोधेन सर्वात्मभावनासिद्धये पवित्रं परिशुद्धं निर्विशेषज्ञानं धारयेत् ॥ “पवित्रं ज्ञानमुच्यते” इति श्रुतेः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रा अप्यनुवदन्तीत्याह—तदपीति ॥ परैः स्तूयमानः । कुण्डिकां कमण्डलुं चमसं नारिकेलिकपालार्धं त्रिविष्टपं त्रैलोक्यं मन्त्रौषधमहिम्ना तत्संचारक्षमाबुपानहौ पादत्राणनकरौ ॥ उत्तरासङ्गं वेदान्तविचारासक्तिः ॥ भिक्षाद्याधारतया वैदलं पत्रप्रथितपर्णपात्रं अवारितमावश्यकं स्नानद्रव्यं मृत्तिका । अयं धर्मः कुटीचकादीनां समः । कुटीचकस्य तु चमसोपानहपवित्रभिक्षापात्राणि विशेषः ॥ कुण्डिकां इत्यादिमन्त्रैः यतीनां या वृत्तिरभिहिता तां वृत्तिं यतेन्द्रियो भूत्वोपासीनः सदा अध्यात्ममन्त्रान् जपेत् । ततः यद्विश्वारोपापवादाधिकरणं विश्वायं विश्वायतनं तद्येन मीयते स मनुः प्रणवः तयोः परापरब्रह्मणोः संयोगमैक्यं मनसा प्रणवार्थं ब्रह्माहमस्मि इति सदा भावयेत् ॥ १२—१८ ॥

विश्वाधिष्ठानात् पञ्चभूतानां भेदः

आकाशाद्वायुर्वायोज्योतिर्ज्योतिष . आपोऽद्भ्यः पृथिवी ।

एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्येऽजरममरमक्षरं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

यद्विश्वाधिष्ठानं ततः पञ्चभूतानि भिद्यन्त इत्यत आह—आकाश इति । तत्सकाशादाकाशः । आकाशादिपञ्चभूतानां ब्रह्मकार्यत्वेन कार्यकारणयोरैकत्वात्

एतेषां भूतानां यदारोपापवादाधिष्ठानं तत् ब्रह्मेति प्रपद्ये । अधिष्ठेयसापेक्षतोऽ-
धिष्ठानमपि जीर्यन्म्रियत इत्यत आह—अजरममरमक्षरं प्रपद्य इति ।
अधिष्ठेयस्याकाशादेः स्वाज्ञानविकल्पितत्वेन कारणतुल्यत्वादधिष्ठेयापाये निर-
धिष्ठानत्वात् तत् कदापि न हि जीर्यते, नापि म्रियत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

यतेः स्वानुभवप्रकटनम्

मय्यखण्डसुखाम्भोघौ बहुधा विश्ववीचयः ।

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥ २० ॥

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेव विहायसः ।

अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥ २१ ॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।

अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिबत्पारविवर्जितोऽहम् ॥ २२ ॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीश्वरः ।

अखण्डबोघोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥

विश्वायमनुसंयोगध्याता यतिः स्वानुभवं प्रकटयति—मयीति । ममाकाशवत्
कल्पनास्पृष्टत्वात् ॥ मेरोः केनापि हर्तुमशक्यत्वात् मेखदचलोऽस्मीत्यर्थः ॥
एवं नित्यानुसंधानतो विर्विकल्पं मनो भवति तेन कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥

योगाभ्यासेन ब्रह्मसाक्षात्कारः

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य ।

वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् ।

संदश्य शनैर्जिह्वां यवमात्रविनिर्गताम् ॥ २४ ॥

माषमात्रीं तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा मुवि ।

श्रवणे नासिके गन्धायतत्वं न च संश्रयेत् ॥ २५ ॥

अथ शैवं पदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।

तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मना ॥ २६ ॥

यद्येवं ज्ञानं नोदेति तदा योगाभ्यासेन प्राणापानैक्यं कृत्वा षण्मुखीकरणेन कुण्डल्युद्धोधनं कृत्वा तथा ग्रन्थित्रयात्मकषडाधारं भित्त्वा सहस्रारे ब्रह्मसाक्षात्कारं कुर्यादित्याह—तदभ्यासेनेति । योगाभ्यासेन प्राणापानसंयमनपूर्वकं कुण्डलिन्या सुषुम्नां भेदयेत् इत्यत्र वक्ष्यमाणमन्त्रा भवन्तीत्याह—वृषणेति । वृषणापानमध्यं करद्वयेन संपीड्य ॥ जिह्वाबन्धनपूर्वकं माषमात्रलक्ष्यानुसन्धानपूर्वकं दृष्टिं श्रोत्राकाशे मुवि पदद्वये च संस्थाप्य । श्रवणासासिकागन्धग्रहणं पञ्चज्ञानेन्द्रियतद्विषयपञ्चकोप-लक्षणार्थं । श्रवणादिपञ्चन्द्रियाणां शब्दादिपञ्चविषयायतनत्वं न च संश्रयेत् इन्द्रियेन्द्रियार्थसंबन्धं मनःसंकल्पसंबन्धं च न कुर्यादित्यर्थः । एवं कृते प्राणापानैक्यं भवति ॥ ततः कुण्डलिनी सुषुम्नां भित्त्वा अथ सहस्रारचक्रं प्रविश्य लीयते । तथा साकं दृक्जनः प्राणाग्नयोऽपि शैवपदं यत्र विराजते तत्रैव लीयन्ते । तद्व्याधिकरणं ब्रह्मैव तद्व्यासापेक्षाधिकरणतापाये तदेव निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषं परं ब्रह्मेत्यर्थः । एवमभ्यासः सफलो भवतीत्याह—तदभ्यासेनेति । योऽयं ज्ञानयोगोऽभिहितः पूर्वजन्मन्यार्जितः अभ्यस्त आत्मा स्वरूपं यस्य तेन पूर्वजन्मार्जितात्मना तदभ्यासेन योगिपटलभावनानुरूपं परापरे ब्रह्मणि लभ्येत ॥ तत्र निर्विशेषज्ञानिस्त्याक्तज्ञानसमकालमेव ब्रह्मैव भवतीत्युक्तम् ॥ २४-२६ ॥

सविशेषज्ञानिनः क्रममुक्तिः

संभूतैर्वायुसंश्राव्य हृदयं तप उच्यते ।

ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्वित्वा मूर्धानमव्ययम् ॥ २७ ॥

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् ।

भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः ॥ २८ ॥

अथ सविशेषज्ञानिनः क्रममुक्तिमाचष्टे—संभूतैरिति । सम्यक् भवन्तीति संभूतानि बाह्यान्तःकरणानि । तैः साकं यत्सविशेषज्ञानाग्निना तप्यते दीप्यते प्रकाशते इति तप इत्युच्यते । हृदयं प्रविश्य तत्रत्यवायुं प्राणवायुं संश्राव्य ब्रह्मरन्ध्रभेदनसमर्थमिति श्रुत्वा तं प्राणमवष्टभ्य सुषुम्नाद्वारेण देहादूर्ध्वं मूर्धानं भित्त्वा यदपरं ब्रह्माव्ययं तदेव प्रपद्यते ॥ तत् प्राप्य पुनः निवर्तन्त इत्यत्र—
“स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् भजन्ति । भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः” ॥ इति शबलब्रह्मोपासकाः सुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा सूर्यद्वारेण ब्रह्मलोकं प्रविश्य तत्र निर्विशेषब्रह्मान्वेषणं कुर्वन्तो यावदाभूतसंग्रवं तत्रोषित्वाथ वासनाक्षयतो ब्रह्मणा सह कैवल्यमेत्य कदापि न हि पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥ २७, २८ ॥

निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनां मोक्षः

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।

अविकारमुदासीनं गृहीधर्माः प्रदीपवत् ॥ २९ ॥

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।

नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥ ३० ॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।

निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥ ३१ ॥

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।

केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ॥ ३२ ॥

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।

स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥ ३३ ॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।

यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥ ३४ ॥

इत्युपनिषत् ॥

केचनात्रैव निर्विशेषं ब्रह्म विदित्वा कृतकृत्या भवन्ति इत्यत्र आभासतांऽपि यद्यस्ति स्वातिरिक्तकलना तदा तत्साक्षिणो भूत्वा मुक्ता भवन्तीत्याह—न साक्षिणमिति । स्वदेहतदन्यत्रात्मात्मीयाभिमतिमुत्सृज्यानवरतब्रह्मानुसंधानपरि-क्षीणस्वातिरिक्तभ्रमो मुनिः प्रवृत्तिनिवृत्तिपराङ्मुखो भूत्वा कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवेदित्यर्थः ॥ इत्युपनिषच्छब्दः कुण्डिकोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

कुण्डिकोपनिषद्द्वयाख्या लिखिता स्वात्मबोधिनी ।

कुण्डिकोपनिषद्द्वयाख्याग्रन्थजातं शतं स्मृतम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविशरणे चतुस्सप्ततिसंख्यापूरकं

कुण्डिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

जाबालोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

अविमुक्तोपासनम्

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम् । यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां
देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां
देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । तस्माद्यत्र कचन गच्छति
तदेव ¹मन्येतेति² । इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां
ब्रह्मसदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म
व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति । तस्मादविमुक्तमेव
निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेत् । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य एवमेवैतद्भगवन्
इति वै याज्ञवल्क्येति ॥ १ ॥

जाबालोपनिषत्ख्यातसंन्यासज्ञानगोचरम् ।

वस्तुतस्तैपदं ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यते ॥

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतजाबालशाखायां कर्मादिकाण्डत्रयं विद्यते । तत्र सकामिनां
कर्मकाण्डानुष्ठानतः चन्द्रलोकाप्तिः । निष्कामिनां कर्मोपासनाकाण्डसमुच्चयानुष्ठानतो

¹ उ१. मन्यते.

² उ. 'इति' इत्यस्य स्थाने 'तदविमुक्तमेव' इति दृश्यते,

ब्रह्मलोकातिः । काण्डद्वयार्थविरक्तानां ब्रह्ममात्रासिहेतुशतस्त्रीयजपसर्वकर्मसंन्यास-
साधनसम्पन्नानां ब्रह्ममात्रासिसाधनभूतेयं ज्ञानकाण्डात्मिका जाबालोपनिषदारब्धा ।
तस्यास्तावदल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था ।
मिथिलोपवनप्रान्ते वादेन ब्राह्मणान् जित्वा स्वात्तपरब्रह्मविद्यया जनकं बोधयित्वा
स्वशिष्यगणेन सह याज्ञवल्क्यः पुनः मिथिलोपवने किञ्चित्कालमासांचक्रे । यः
सर्वज्ञकल्पस्तं याज्ञवल्क्यं अविमुक्तयत्तां जिज्ञासुर्बृहस्पतिरुवाच सर्वक्षेत्रादपि
यदनु प्रसिद्धम् । कुत्सितं पापकर्म रौतीति कुरुः । तस्य क्षेपणपूर्वकं स्वगतजनत्राण-
नात् कुरुक्षेत्रम् । यद्वा—कुः पृथिवी, तस्यां रौति शब्दं करोतीति कुरुः प्राण-
स्तदावासहेतुशरीरं कुरुक्षेत्रं तत्रत्यदेवतानामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिमित्तदेवस्य प्रत्यक्चि-
द्भातोर्यजनं ^१पूजाकरणम् । अत्र हीन्द्रियाणि स्वोचितविषयोपहारैरात्मानं यजन्ति
सर्वेषां भूतानामिन्द्रियाधिष्ठातृणां वा ब्रह्मसदनं ब्रह्मासिस्थानम् । यथा देवयजन-
साधनं कुरुक्षेत्रं तथा विशेषणद्वयविशिष्टमान्तरं कुरुक्षेत्रमिति बृहस्पतिप्रश्नानुरोधं
मुनिराह—अविमुक्तमिति । यत्स्वरूपं स्वाविद्याकामकर्मविमुक्तं तदविमुक्तं ब्रह्म
यत्रोपलभ्यते तदेव ^२भूमध्यगताज्ञाचक्रं कुरुक्षेत्रम् । देवानामित्याद्युक्तार्थम् ।
यस्मादेवं तस्माद्यत्र कचन गङ्गाप्रयागादिस्थले तद्विपरीते वा गच्छति
तदेवाविमुक्तमिति मन्येत जानीयात् । इति अनेन प्रकारेण । इदं वै मया प्राप्तमेव
ब्रह्म । कुरुक्षेत्रमित्याद्युक्तार्थम् । क्षेत्रसामान्यस्य क्षेत्रज्ञविकल्पितत्वात् तदतिरेकेण
न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । अत्राविमुक्तरूपे कुरुक्षेत्रे ब्रह्मेति विज्ञाते तद्विज्ञानानुरोधेन
जन्तोः प्राणिमात्रस्य प्राणेषूत्क्रममाणेषु । स्वाज्ञानरुजं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः
परमेश्वरः संसारतारकं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं व्याचष्टे कथयति । येन “तत्त्व-
मसि”, “अहं ब्रह्मास्मि” इत्युपदेशेन असौ जीवोऽमृतीभूत्वा स्वातिरिक्तभ्रमतो
मोक्षीभवति स्वातिरिक्तापह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतयावशिष्यते । यस्मा-
देवं तस्मात् ब्रह्ममात्रज्ञानोत्पत्तेः प्रागविमुक्तं भूमध्यगतज्योतिर्लिङ्गमेव निषेवेत
ज्योतिर्लिङ्गमस्मि इत्यनुसंधानं कुर्यात् ।

^१ ३१. पूजाकरणम् .

^२ ३. ‘तदेव’ नास्ति.

“ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत् सदा यतिः”

इति श्रुतेः । यावद्ब्रह्मात्रज्ञानं नोदेति तावदविमुक्तं ^१प्रत्यञ्चमात्मानमीश्वरं वा न विमुञ्चेत् । याज्ञवल्क्येनैवमुक्तो बृहस्पतिस्तदुक्तमङ्गीचकारेत्याह— एवमेवेति ॥१॥

इति प्रथमः खण्डः

अविमुक्तस्वरूपजिज्ञासा

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । य एषोऽनन्तोऽव्यक्त
आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः ।
सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते
प्रतिष्ठित इति ॥ १ ॥

कथं पुनः अविमुक्तात्मोपासितुं शक्यस्तस्याव्यक्तत्वादित्यविमुक्तयाथात्म्यबु-
भुत्सया याज्ञवल्क्यमत्रिः पप्रच्छेत्याह—अथेति । अथ ह बृहस्पतिप्रश्ननिर्णयानन्तरं
किलैनं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मपुत्रोऽत्रिः पप्रच्छ । किमिति । यस्तारकब्रह्मेत्युक्त एषोऽनन्तः
परिच्छेदत्रयविरलोऽव्यक्त आत्मा तमुक्तलक्षणमात्मानं कथमहं विजानीयामव-
गच्छेयं इति । अत्रिप्रश्नोत्तरं स होवाच याज्ञवल्क्यः बृहस्पतिं प्रति । तारकत्वेन य
उक्तः सोऽविमुक्तः प्रत्यगभेदेनोपास्यः । तत्र हेतुः भवता पृष्ठो य एषोऽनन्तोऽ-
व्यक्त आत्मा व्याख्यातम् । सोऽविमुक्ते सोपाधिकेश्वरे प्रतिष्ठित इति तस्य
निरावृतत्वात् तस्मिन्नव्यक्तोऽनन्तात्मोपलभ्यते ॥ १ ॥

अविमुक्तोपलब्धिसाधनम्

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां
च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति ।

सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन^१ वरणा भवति । सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति । कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति । एतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति । सोऽविमुक्त उपास्य इति । सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेवं वेदेति ॥ २ ॥

तदुपलब्धिस्थानं पृच्छति—सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति । सोऽयमीश्वरः कुत्र संनिहितः इति पृष्टः उत्तरमाह—वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । वरणानास्योर्मध्ये प्रतिष्ठित इत्यर्थः । वरणानासीप्रदेशौ श्रुतिर्व्याकरिष्यतीति न व्याख्यातम् । वरणानासीस्वरूपं पृच्छति—का वै वरणा का च नासीति । तत्र वरणाशब्दार्थं व्युत्पादयति—सर्वानिति । सर्वान् ज्ञानकर्मेन्द्रियकृतान् दोषान् वारयति निवारयतीति । तेन वरणा भवतीति । सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् पापानि नाशयतीति । तेन नासी नाशी भवति । सकारः शकारार्थः । वरणाया नास्याश्च मध्ये प्रतिष्ठित इत्युक्त्या नासाभूसन्धिः प्रतीयते । तथापि तत्प्रदेशं पृच्छति—कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । अस्याविमुक्तस्येत्यर्थः । सर्वत्रेतिशब्दः प्रश्नपरिसमाप्त्यर्थः । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः प्रसिद्धः सन्धिः स एष प्रसिद्धः ब्रह्मकपालस्थानीयद्युलोकस्य चुबुकावसानस्थानीयस्य च परस्य च भूलोकस्यापि सन्धिर्भवति । लोकद्वयसमुच्चयार्थश्चकारः । एतद्वै एतमेव । स संधीयते अस्मिन्नाविमुक्तमिति सन्धिः स्वात्मा । तं सन्धिं स्वात्मानं संध्यां भ्रूणाणसन्धौ ब्रह्मविद् उपासते तत्रत्यज्योतिर्लिङ्गव्यानपरा भवन्ति । सोऽविमुक्त उपास्यः इति व्याख्यातम् तज्ज्ञानफलमाह—यो वा इति । यो वै विद्वान् अविमुक्तयाथात्म्यं वेद तद्गतहेयांशमपोह्य निर्विशेषात्मानं जानाति

^१ उ. 'तेन' नास्ति.

स विद्वान् सोऽविमुक्तन्तत्साक्षात्कारहेतुं ज्ञानमाचष्टे स्वयमीश्वरभावमेत्य स्वभक्त-
पटलचरमदशायां तारकज्ञानोपदेशं करोति । स्वयं निर्विशेषब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

अविमुक्तज्ञानोपायः

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः । किंजप्येनामृतत्वं ब्रूहीति ।
स होवाच याज्ञवल्क्यः । शतरुद्रीयेणेति । एतान्येव ह वा अमृतस्य
नामधेयानि । एतैर्ह वा अमृतो भवतीति ॥ १ ॥

अविमुक्तयाथात्म्यज्ञानोपायं ब्रह्मचारिणः पृच्छन्तीत्याह—अथेति । अथ
अत्रिप्रश्ननिर्णयानन्तरं ह किल एनं याज्ञवल्क्यं तच्छिष्या ब्रह्मचारिण ऊचुः ।
किंजप्येनामृतत्वं केन जप्येनामृतत्वसाधनज्ञानं जायते तद्ब्रूहि भगवन्नि ।
तैः पृष्टः स होवाच याज्ञवल्क्यः । किमिति । कैवल्यादिपञ्चरुदेण रुद्राध्यायेन
वेति अमृतत्वसाधनज्ञानं जायते ततोऽमृतत्वमित्येतानि शतरुद्राभिधानानि
अमृतस्वरूपरुद्रनामधेयानि भवन्ति । एतैः शतरुद्रीयजपैः चित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा
शतरुद्रजापी मुनिरमृतो भवति । इतिशब्दः खण्डसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

इति तृतीयः खण्डः

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच ।
भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं^१

^१ उ. परिसमाप्य.

समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानबुभुत्सया जनको मुनिं पृच्छतीत्याख्यायिकामवतारयति—
अथेति । अथ ब्रह्मचारिप्रश्नानन्तरं नामतो जनको ह वैदेहो विदेहराजो
याज्ञवल्क्यमुप समीपमेत्योवाच । किमिति । हे भगवन् सर्वकर्मसंन्यासमनु-
ब्रूहीत्युक्तः स होवाच याज्ञवल्क्यः । किमिति । अविरक्तदृष्टिमाश्रित्याश्रम-
व्यवस्थामाह—ब्रह्मचर्यमिति । विद्याग्रहणनिमित्तब्रह्मचर्यं तेनैव कालं नयेत्
यद्यविरक्तस्तदा तत्समाप्य गृही भवेत् । तत्र यावच्छक्ति निष्कामबुद्ध्या सत्कर्मानुष्ठानं
कुर्वन् कालं नयेत् तत्र विरक्तिश्चेत्तदा गृहाद्वनी साग्निरनग्निरवा भूत्वा तत्रैव कालं
नयेत् । यद्यलंबुद्धिस्तदा प्रव्रजेत् चतुर्थाश्रमं गच्छेत् । एवं क्रमेण संन्यासः
कर्तव्यो न विपर्यये इत्यत आह—यदि वेति । यदि वेति पक्षान्तरे विकल्पः
तीव्रतरवैराग्यं जायते तदाधीतवेदान्तो विद्वान् प्राथमिकब्रह्मचर्याश्रमादेव प्रव्रजेत्
पारमहंस्याश्रमं गच्छेत् । ब्रह्मचर्यसमाप्त्यनन्तरं कुटीचकादिक्रमेण पारिव्राज्यं
ग्राह्यमिति चेन्न तत्क्रमस्य मन्दविरागिविषयत्वात्, वैराग्यसाकल्ये पारमहंस्यमेव
स्वीकर्तुं शक्यमित्यर्थः । यदि गृहस्थाश्रमे विरक्तिर्जायते तदा गृहाद्वा प्रव्रजेत्
वनाद्वा । प्रव्रजनस्य वैराग्यनिमित्तत्वात् न क्रमाकाङ्क्षास्तीत्यर्थः । यदा
विरक्तिर्जायते तदाश्रमत्रयान्तराळेऽपि न्यासो युज्यत इत्याह । अथेति वैराग्या-
नन्तर्यार्थः । वनस्थदीक्षासमाप्तावपि कुतश्चिन्मित्तात् संन्यासो न लभ्यते तदानीं
तदवस्थितिः द्विधा भवति जपो ध्यानं चेति । तदेव हि तद्व्रतम् । तदस्यास्तीति
व्रती । न व्रती अव्रती वा, यद्वा व्रती वा, अधीतसाङ्गस्वाध्यायी स्नातकः,
यत्किञ्चिद्वेदाध्याय्यस्नातको वा, गृहस्थोऽपि द्वेधा नाश्रमी भवति एकस्वीकृताग्निः
कळत्रमरणादुत्सन्नाग्निः, कळत्रे सत्यपि कश्चित् निरग्निः असंस्कृतत्वात्, येनाग्निर्न
गृहीतः सोऽयमनग्निको वा विरक्तिर्जाता चेत् परिव्रजेदिति सर्वत्रानुषज्यते ।

किं बहुना । नात्र कालकृतनियमोऽस्तीत्याह—यदिति । यस्मिन्नेवाहनि विरजेत्
वैराग्यं प्राप्नुयात् तस्मिन्नेव अहनि प्रब्रजेत् संन्यसेत् ॥ १ ॥

आहिताग्निसंन्यासविधिः

तद्वैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् ।
आग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्निर्हि वै प्राणः । प्राणमेवैतया करोति ।
त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम
इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्विगो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । ^१एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः ।

प्राणं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

यदा आहिताग्निः संन्यस्यति तदा तस्येष्टिविशेषमाह—तदिति । तद्वैके के-
चनाचार्याः प्रजापतिदेवताकां प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति तदु । तेषामुक्तमपि न
कुर्यात् । किं कर्तव्यमित्यत्र अग्निदेवताकामाग्नेयीमिष्टिमेव कुर्यात् । तत्रेयमुपपत्तिः ।
अग्निर्हि प्राणः । अग्नेर्देवप्रधानत्वेन सूत्ररूपत्वात् यस्मादेवं तस्मादेतया आग्नेय्येष्ट्या
प्राणमेव करोति ततस्त्रैधातवीयामेवेन्द्रदेवताकामेवेष्टिं याज्ञिकप्रसिद्धां कुर्यात् ।
तत्रोपपत्तिः । एतयैवेष्ट्या त्रयो धातवो यदुताग्नेयं रूपत्रयं सत्त्वं शुक्लं रजो
रोहितं तमः कृष्णम् । इतिशब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः । पुरोक्तरीत्या यथाशास्त्रमिष्टिं
कृत्वा अनेन मन्त्रेण अभ्याप्राणं कुर्यादित्याह—अयमिति । हे अग्ने अयं प्राणस्ते
तव योनिः मुख्यप्राणस्य विराड्योनित्वात् ऋत्विग्यः संवत्सरात्मनो ऋत्ववय-
वित्वाद्यतः सूत्राज्जातः सन्नरोचथाः दीप्तिं कृतवानसि यस्तव कारणं तमात्मानं
जानन्नारोह स्वकारणीभूतप्राणमात्रो भवेत्यर्थः । अथ स्वकारणप्रवेशानन्तरं

^१ उ. 'एष वा'.

नोऽस्माकं रयिं स्वात्मज्ञानधनमभिवर्धय । मन्त्रसमाप्ताविति शब्दः । अनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । मन्त्रार्थं श्रुतिरनुवदति । एष वा अग्नेयोनिर्यः प्राण इति । स्पष्टम् । प्राणं स्वकारणं गच्छ । स्वाहाशब्दः कार्यकारणैकत्वद्योतकः । एवमेव मन्त्रोऽप्याह हि ॥ २ ॥

निरग्निकसंन्यासविधिः

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्र-
स्त्रय्येवं विन्देत्^१ । ^२तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

इदानीं निरग्निकानां संन्यासविधिमाह—ग्रामादिति । ग्रामे श्रोत्रियागा-
रादग्निमाहृत्य पूर्ववदिष्टिष्यतिरिक्तविरजाहोममन्त्रपुरुषसूक्ताभ्यां पूर्णाहुत्यन्तं हुत्वा
“अयं ते” इति मन्त्रेण संन्यासाध्वर्युरग्निमाघ्रापयेत् । पक्षान्तरं यदग्निं
न विन्देदप्सु जुहुयात् । तत्रोपपत्तिः आपो वै सर्वा देवताः । ओंकारप्र-
भवेभ्यः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहा इत्यनेन मन्त्रेण हुत्वोद्धृत्य
प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम् । हुतशेषमन्नं निरामयहेतुत्वात् तदानीं
यज्जप्यं तदुच्यते स्वाज्ञानमोक्षहेतुमन्त्रः प्रणवस्तस्य त्रयीरूपत्वात् । एवं विन्देत्
यत् प्रणवार्थरूपं तदस्मीति विद्यात् । यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं तद्ब्रह्म प्रणवार्थत्वे-
नोपासितव्यम् । एवं याज्ञवल्क्योक्तं जनकोऽङ्गीचकार । किमिति । एवमेवैत-
द्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्येति । एष इति पाठे संन्यासः ॥ ३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

^१ उ. वेदेत्.

^२ उ. एतद्ब्रह्म एतदुपासितव्यम्.

ब्राह्मणस्य संन्यासेऽधिकारः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । पृच्छामि त्वा याज्ञ-
वल्क्यायज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः ।
इदमेवास्य यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्य । अयं विधिः
प्रब्राजिनाम्^१ ॥ १ ॥

जनकेन यत् पृष्ठव्यं तदनुज्ञया अत्रिः पप्रच्छेत्याह श्रुतिः—अथेति । अथ
ह जनकप्रश्नानन्तरं एनं याज्ञवल्क्यं जनकचोदितोऽत्रिः पप्रच्छ । किमिति ।
हे याज्ञवल्क्य त्वा त्वां पृच्छामि क्रियाङ्गयज्ञोपवीती ब्राह्मणः इति लोकप्रसिद्धिः ।
अयं तु अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणो भवतीति पृष्ठः स होवाच याज्ञवल्क्यः ।
इदं ब्रह्मज्ञानमेवास्य संन्यासिनो यज्ञोपवीतं यज्ञरूपविष्णुप्रापकत्वात् यः
स्वयंप्रकाशात्मा सोऽहमस्मीति निश्चित्य । अपः प्राश्य इत्यनेन संन्यासविधिः ।
तत् कथं प्रैषानन्तरं “समुद्रं गच्छ स्वाहा” इत्यनेन मन्त्रेण जले शिखायज्ञोप-
वीतप्रक्षेपणपूर्वकं त्रिराचम्य । अयं विधिः परिब्राजिनाम् ॥ १ ॥

संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तव्यनिरूपणम्

वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा
महाप्रस्थाने वा । अथ परित्राड्बिवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः
शुचिद्रोही^२ भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । यद्यातुरः स्थान्मनसा
वाचा संन्यसेत् । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी
ब्रह्मविदिति । एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

^१ उ. परिब्राजकानाम्.

^२ उ. भैक्षमाणो.

क्षत्रियादेः पारिव्राज्यानधिकारादाश्रमभ्रष्टानामसाध्यचिकित्सामयानां श्रवणा-
द्यसमर्थानां वा वक्ष्यमाणोऽयं विधिर्युज्यत इत्याह—वीरेति । संग्रामानिवर्तिवीराणां
योऽध्वा तस्मिन् वीराध्वाने वा, न विद्यते अशनं यस्य तदनाशकं तस्मिन्ननाशके
वा गङ्गाद्यपां प्रवेशे वा जाज्वल्यमानाग्निप्रवेशे वा यावच्छरीरपातगमने महाप्रस्थाने
वा तनुं त्यजेदिति पञ्चप्रकारेऽपि योज्यम् । यद्ययं श्रवणाधिकारी तदा शुक्लेतरकाषाय-
वासाः सशिखकेशश्मश्रुगह्व्यान्मुण्डः । न विद्यते देहमात्रधारणातिरिक्तपरिग्रहो
यस्य सोऽयं अपरिग्रहः । बाह्याभ्यन्तरशौचतः शुचिः मनोवाक्कायकर्मभिः
प्राणिमात्राद्रोही प्राणसंधारणार्थं भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय भवति ।
पक्षान्तरं चोरव्याघ्ररोगाद्यभिभूतस्य संन्यासाङ्गकर्म कर्तुमशक्यत्वात् । सोऽयं
वक्तुं शक्तश्चेत् मनोयुक्तवाचा प्रेषोच्चारणपूर्वकं संन्यसेत् । यदि तत्राप्यशक्तस्तदा
मनसैव वा संन्यसेत् संकल्पयेत् । एष ज्ञानहेतुपन्था ब्रह्मणाधिकारिणा हानुवित्तो
लब्धः तेनोक्तं पथा ब्रह्मवित्पथा संन्यासी स्वात्तबोधानुरूपं ब्रह्मैति यदि
निर्विशेषज्ञानी तदा विदेहकैवल्यमेतीति मुनिनोक्तमत्रिरङ्गीचकार एवमेवैष
भगवन्निति वै याज्ञवल्क्येति ॥ २ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्चेतकेतुदुर्वासक्रभुनिदाघ-
जडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता
उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ १ ॥

इदानीं याज्ञवल्क्यो मुनिः श्रोतृश्रद्धाभिवृद्धये तैरपृष्टोऽपि पारमहंस्यधर्मपूगस्य
महद्विराश्रितत्वेन सर्वोत्कृष्टतां प्रकटयति—तत्रेति । तत्र कुटीचकादिषु श्रुत्युक्तेषु
तुर्याश्रमतुर्यभेदानुष्ठायिनः परमहंसा नाम वक्ष्यमाणाः प्रसिद्धा हि । के ते

इत्यत्र संवर्तकादिरैवतकप्रभृतयः नवसंख्याकाः श्रुतिपठिताः अव्यक्तलिङ्गाद्या-
चरन्त इत्यन्तं संवर्तकादीनां विशेषणम् । व्रतिकाभिवनिलिङ्गानि येषां न सन्ति ते
अव्यक्तलिङ्गाः । यदाचारो लोकैर्न दृश्यते ते अव्यक्ताचाराः । अनुन्मत्ताः
उन्मादहेतुमोहवैरलयादुन्मत्तवदाचरन्तः ब्रह्माकारपरिणतचित्तत्वात् परबोधिताः
यत्किञ्चित् कुर्वन्त इव दृश्यन्ते तत्करणमपि लोकोन्मादननिवृत्तिकरमेव भवति ।

“पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् ।

आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥”

इति श्रुतेः ॥ १ ॥

साम्बरपरमहंसलक्षणम्

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिष्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोप-
वीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥ २ ॥

पूर्वं केवलपारमहंस्यमुक्तम् । इदानीं कुटीचकादिलिङ्गपरियागपूर्वकं पारमहंस्यं
प्रकटयति—त्रिदण्डमिति । वैणवदण्डत्रयं मृदार्वालाञ्चादिकमण्डलुं मौड्यादि-
रचितं शिष्यं भिक्षाधारपात्रं दार्वादिविकारं वितस्तिमात्रं जलपवित्रं शिखां
यज्ञोपवीतम् । चकारः सर्वधर्मपरियागसमुच्चयार्थः । पञ्चमुद्रागायत्र्यादि-
कमेतत्सर्वं “भूः स्वाहा” इत्यनेन मन्त्रेण अप्सु परित्यज्य देशिकमुपसृत्य
वेदान्तश्रवणादिभिरात्मानमन्विच्छेत् ॥ २ ॥

दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो ^१निष्परिग्रहः ^२तत्त्वब्रह्ममार्गे
सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो
भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण ^३लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृह-

^१ उ. निर्ग्रन्थः.

^२ उ. तत्तद्ब्रह्म.

^३ उ. लाभालाभयोः समः,

तृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहर -
कन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यान-
परायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं
करोति स परमहंसो नाम । इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥

साम्बरपरमहंसलक्षणमुक्त्वा दिगम्बरपरमहंसलक्षणमाह— यथेति । यथा-
जातरूपधरः दिगम्बरः निर्द्वन्द्वः शीतोष्णादिसमधीः । देहधारणोपयोगी
कौपीनाच्छादनभिक्षाश्रयणसाधनपरिग्रहेतरपरिग्रहशून्यो निष्परिग्रहः । तत्त्वं वास्तवं
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं तत्प्रापकमार्गस्तज्ज्ञानं तस्मिन् तत्त्वब्रह्ममार्गं सम्यक्संपन्नः
तन्निष्ठ इत्यर्थः । तत्रोपायमाह— शुद्धमानस इति । निस्सङ्कल्पत्वात् प्राणसंधारण-
मात्रं विधूमाद्युपलक्षितयथोक्तकाले स्वाज्ञानतत्कार्यविमुक्तो यथानुरूपमुदरपात्रेण
भैक्षमाचरन् मुखव्यादानं कुर्वन् भिक्षादिलाभालाभौ समौ भूत्वा हर्षविषादाव-
कुर्वन् कालं नयेदित्यर्थः । इदानीं तन्निवासस्थलान्याह— शून्यागारेत्यादिना ।
जनशून्यागारं विष्णवादिदेवतागृहं, कुतश्चिन्निमित्तसंजाततृणकूटं, पिपीलिकादि-
कृतवल्मीकं, वटाश्वत्थादिवृक्षमूलमामपात्रनिक्षेपकुलालशालात्रिपञ्चाग्निहोत्रशाला,
महानदीतीरपुलिनं, गिरिरुहवेणवादिनिविडदेशो गिरिकुहरं, गिरिगुहास्थलं कन्दरं,
वृक्षान्तस्सुषिरं कोटरं, उदकस्रावप्रदेशो निर्झरः, विशुद्धभूप्रदेशः स्थण्डिलं,
निरावरणं शून्यागारादिस्थण्डिलान्तम् । तेषु यथासंभवं अनिकेतवासी नानाविधोप-
करणे प्रयत्नः स्वातिरिक्तवस्तुषु निर्ममः शुक्लतेजो ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति
पर्यवसन्नः शुक्लध्यानपरायणः । “शुक्लतेजोमयं ब्रह्म” इति श्रुतेः । आत्ममात्र-
मधिकृत्य भवतीत्यध्यात्मं तन्मात्रज्ञानं तन्निष्ठः शुभाशुभस्थानीयनिष्कामसकाम-
कर्मसामान्यनिर्मूलनपरः । किं बहुना । स्वातिरिक्तसामान्यसंन्यासेन सह
संन्यस्यास्मीति यस्तदेहाभिमित्यागं करोति सोऽयं विद्वान् परमहंसः
प्रत्यक्परविभागसहः परमात्मा नाम निश्चितम् । इत्युपनिषच्छब्दौ शास्त्रपरिस-
माप्त्यर्थौ ॥ ३ ॥

इति षष्ठः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 लिखितं स्याद्विवरणं जाबालोपनिषत्स्फुटम् ।
 जाबालोपनिषद्ब्रह्माख्या दशोनद्विशतं स्मृता ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्रयोदशसंख्यापूरकं
 जाबालोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

तुरीयातीतावधूतोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

तुरीयातीतावधूतचर्या, निष्ठा च

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वलोकपितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच । तमाह भगवान्नारायणः । योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते । महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा, स्वरूपायुसंधानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा, दण्डकमण्डलुकटिसूत्रकौपीनाञ्छादनस्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य, दिगम्बरो भूत्वा, विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संन्यज्य, तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्, क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय, ¹वैदिकलौकिकमप्युपसंहृत्य, सर्वत्र पुण्यापुण्यविवर्जितः, ज्ञानाज्ञान-

मपि विहाय, शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्य, देहादि-
 वासनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषकामक्रोधलोभ-
 मोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा, स्ववपुः कुणपाकारमिव
 पश्यन्, अप्रयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा, गोवृत्त्या
 प्राणसंधारणं कुर्वन् यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः, सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं
 भस्मीकृत्य, स्वरूपं गोपयित्वा, ज्येष्ठान्येष्ठत्वापलापकः, सर्वो-
 त्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्यो-
 ऽस्तीति भावनस्य देवगुह्यादिधनमात्मन्युपसंहृत्य, दुःखेन नोद्विग्नः,
 सुखेन नानुमोदकः, रागे निःस्पृहः, सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः,
 सर्वेन्द्रियोपरमः, स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्मप्राभवमननुस्मरन्,
 त्यक्तवर्णाश्रमाचारः, सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः, सर्वत्र सर्वदा
 संचारशीलः, देहमात्रावशिष्टः, जलस्थलकमण्डलुः, सर्वदानुन्मत्तो
 बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्, असम्भाषणपरस्य स्वरूपध्यानेन
 निरालम्बमवलम्ब्य, स्वात्मनिष्ठानुकूल्येन सर्वं विस्मृत्य, तुरीयाती-
 तोऽवधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः, प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः
 सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

तुर्यातीताख्योपनिषद्वेद्यं यत्परमाक्षरम् ।

तत्तुर्यातीतचिन्मात्रं स्वमात्रं चिन्तयेऽन्वहम् ॥

इह खलु शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्तेयं तुरीयातीतावधूतोपनिषत् गौणमुख्याव-
 धूतचर्याप्रकटनव्यग्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो
 विवरणमारभ्यते । शिष्याचार्यपुत्रपितृभावांगतचतुरानननारायणप्रश्नप्रतिवचन-

रूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—अथेति । तुर्याश्रम-
प्रविभक्तकुटीचकवहूदकहंसपरमहंसचर्या यथावदवगम्य, अथ तुर्यसंख्यापूरकं
पारमहंस्यं, तदतीतास्तुर्यातीताश्च ते ।

“यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा ।

अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ॥

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्भूतसंसारबन्धनात् ।

तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥”

इति “गौणमुख्यावधूताश्च” इति तुरीयातीतावधूताः । तेषां महानुभावानां कोऽयं
मार्गः इत्यनेन तैराचरणीयचर्या अवगम्यते । का स्थितिः इत्यनेन निष्ठा चापि
ज्ञातव्येति । तत्प्रश्नमङ्गीकृत्य तमाह भगवान् नारायणः । किं तत् इत्यत्र
तन्मार्गस्यातिदुर्लभतया तानादौ स्तौति—योऽयमिति । नित्यपूतः^१ मयि
मद्भावमेव स्थितत्वात् । मद्भावापन्नज्ञानिनो मन्यन्ते अत एवायं महापुरुषः ।
कथमस्य महापुरुषत्वं इत्यत्र यतो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते मदतिरिक्तचिन्ता-
वैरल्यात् । त्वं कुत्रावस्थित इत्यत्र—अहं च तस्मिन्नेवावस्थित इति ।
कुटीचकादिधर्मा नारदपरिव्राजकोपनिषदि सम्यग्व्याख्याताः । तत्रायं परमहंसः
सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्मनिष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति । स्वरूपानुसन्धानेन सर्वप्रपञ्चं
स्वातिरिक्तं^२ नेतीति विदित्वा तद्वेदनसमकालमेव पारमहंस्यलिङ्गं त्याज्यमिति
मनीषया तत्रापि संसारधिया तत्याग उपपद्यत इत्यर्थः । तदूर्ध्वं पारमहंस्याश्रम-
त्यागानन्तरं कर्तव्यकर्माभावाद्देहादिचेष्टायां^३ मन्त्रानाकांक्षत्वात् अमन्त्रवदाचरन् ।
इदं कर्तव्यमितीच्छ्या क्षौरादिकं विहाय तथा वैदिकलौकिकमप्युपसंहृत्य ।
मनोवृत्तित्वसामान्यात् ज्ञानाज्ञानमपि विहाय देहाभिमानत्यागासिना शीतोष्ण-
सुखदुःखमानावमानं निर्जित्य । देहादिवासनात्रयपूर्वकं अहं एतादृश
इत्यप्रकटनपूर्वकं स्वरूपं स्वशीलं गोपयित्वा । अयं मे ज्येष्ठः अयं मे कनिष्ठः
इति ज्येष्ठाज्येष्ठत्वापलापकः । अद्वैतातिरिक्तं द्वैतं नास्तीति भावयित्वा
देवगुह्यात् देवरहस्यात् यत्तदेव भावनं तत् इन्धनं ब्रह्ममात्राग्निना दाह्यत्वात्

^१ उ. नित्यपूते.

^२ उ. ‘स्वातिरिक्तम्’ इति नास्ति.

^३ उ. चेष्टायै.

ब्रह्माकारवृत्तेरपि इन्धनत्वं तदप्यात्ममात्रधिया आत्मन्युपसंहृत्य । यदि पुनः स्वातिरिक्ताभासावलम्बनतो दुःखादिप्रसक्तौ दुःखेन नोद्विग्नः इत्यादि । प्राभवं प्रभावम् । अनुस्मरन् मद्विदितविद्याफलमेवं पर्यवसन्नमिति वस्तुतस्तदपि नानुसन्धेयम् । स्वेन पादप्रक्षालनाद्यकर्तव्यत्वेऽपि यदि तृषावृत्तिरुदेति तदास्येन पेयमिति जलस्थलकमण्डल्यपेक्षा युज्यत एवेत्यर्थः । येन केनापि असंभाषणपरः । स्वातिरिक्तप्रपञ्चजातं सर्वं विस्मृत्य अद्वैतनिष्ठापरः अद्वैतात्मपरायणो भूत्वा “सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्” इति श्रुतिसिद्धप्रणवात्मकत्वेन प्रणवार्थतुर्य-तुर्यात्मना देहत्यागं करोति देहतन्निर्वर्त्यजाप्रजाप्रदादितुर्यस्वापान्ततद्व्यष्टि-समष्टितदुभयारोपापवादाधिकरणविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तकलनात्यागमपह्वं करोति । यस्य पारमहंस्यधर्मालंकृतस्य^१ यतेराभासतोऽपि निर्वर्त्यस्वातिरिक्तमस्ति इति भ्रान्तिः सोऽयं गौणावधूतो भवति । यस्य पुनः ब्रह्ममात्रं निष्प्रतियोगिकं तदतिरेकेणापह्नोतव्यविषयाभावज्ञानमुदेति, सोऽयं यतिः मुख्यावधूतो भवतीत्यत्र

“यस्य स्वात्मातिरेकेण निर्वर्त्यं प्रतिभाति सः ।

गौणावधूतो भवति स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमात् ॥

ब्रह्ममात्रधिया यस्य निर्वर्त्यासंभवो भवेत् ।

मुख्यावधूतः स मुनिः स्यमात्रमवशिष्यते ॥ ”

इति स्मृतेः । इत्युपनिषच्छब्दः प्रकृतोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्याद्विवरणं तुर्यातीतस्य सुस्फुटम् ।

तुर्यातीतप्रन्थजातं चत्वारिंशत् समीरितम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे चतुष्पष्टिसंख्यापूरकं

तुरीयातीतावधूतोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

नारदपरिव्राजकोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

नारदं प्रति शौनकादीनां प्रश्नः

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्न-
पूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य, चित्तशुद्धिं प्राप्य,
निर्वैरः, शान्तः, दान्तः, सर्वतो निर्वेदमासाद्य, स्वरूपासुसंधानमनु-
संधाय, नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिशारण्यं
पुण्यस्थलमवलोक्य, सरिगमपधनिसंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैः
प्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थावरजङ्गमनामकैर्मगवद्भक्ति-
विशेषैर्नरमृगकिम्पुरुषामरकिन्नराप्सरोगणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं
भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्त्वयागोपस्थिताः श्रुताध्ययन-
संपन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः
प्रत्युत्थानं कृत्वा, नत्वा, यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा, स्वयं
सर्वेऽप्युपदिष्टा भो भगवन्ब्रह्मपुत्र कथं मुत्तयुपायोऽस्माकं

वक्तव्यम् ॥ १ ॥

पारिव्राज्यधर्मपूगालङ्कारा यत्प्रबोधतः ।

दशप्रणवलक्ष्यार्थं यान्ति तं राममाश्रये ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं नारदपरिव्राजकोपनिषत् ब्रह्मादिस्वाश्रमाचार-
प्रकटनपूर्वकं कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूतधर्मप्रकटनव्यग्रा सृष्ट्यादि-
दशप्रणववाच्यलक्ष्यार्थप्रकाशिनी सर्वापह्नवसिद्धब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना बह्वर्थगर्भिणी
विजृम्भते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । शौनकादिमुनिबृन्दनारद-
नारदपितामहप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आदौ श्रुतिराख्यायि-
कामवतारयति—अथेत्यादिना । अथशब्दः आरम्भार्थः । कदाचित् परिव्राजक-
शिरोमणिः नारदः कृत्स्नलोकसंचारं कुर्वन् स्वपादन्यासतः पुण्यस्थलानि
पुण्यतीर्थानि च तीर्थीकुर्वन् स्वातिरिक्तप्रपञ्चजातं मिथ्यात्वेनावलोक्य ततश्चित्त-
शुद्धिं प्राप्य सर्वात्मैकत्वभावनया निर्वैरः सङ्कल्पादिवृत्तिः शान्तो बाह्यवृत्तितो
दान्तः सर्वतः सर्वत्र निर्वेदं वैराग्यमासाद्य स्वस्वरूपानुसन्धानमनुसंधाय ।
उक्तविशेषणविशिष्टं नैमिशारण्यमवलोक्य स्वागमनकाले स्वकरभूषणवीणा-
वायुसंघर्षणजन्यसरिगमपधनिसंज्ञैः शृण्वद्बाह्यवैराग्यबोधकैः भगवद्भक्तिप्रेमान्वित-
हरिकथालापैः नरमृगादिप्रपञ्चजातं संमोहयन्नागतं नारदं शौनकादिमहर्षयस्त-
मवलोक्य प्रत्युत्थानादिसपर्या कृत्वा दिव्यासने तं निवेश्य तद्दर्शनमात्रतो यत्
परमार्थतत्त्वं तत् स्वयं सर्वेऽप्युपदिष्टा अपि लोकानुग्रहहेतोः तं पृच्छन्ती-
त्याह— भो भगवन्निति । हे ब्रह्मपुत्र भगवद्भक्तिकानामस्माकं कथं स्वाति-
रिक्तास्तिताश्रमतो मुक्तिः स्यात् को वा तदाप्त्युपायो वक्तव्य इति ॥ १ ॥

विदेहमुक्तिलाभोपायोपदेशः

इत्युक्तस्तान्स होवाच नारदः । सत्कुलभवोपनीतः सम्य-
गुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्व-
शाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्म-
चर्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं

तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य, चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधगार्हस्थ्यं चातुर्विध्य-
वानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य, तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य, साधन-
चतुष्टयसंपन्नः, सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा
वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः, संन्यासी परमहंसाश्रमेणा-
स्वलितस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो
भवति । इत्युपनिषत् ॥ २ ॥

तैरेवं पृष्ठो देवर्षिराह—इत्युक्त इति । इत्येवं शौनकादिभिः उक्तः स होवाच
नारदः । किं तत् सत्कुले भवतीति यः कश्चन द्विजातिः सत्कुलभवः विधिव-
दुपनीतः चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः । चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारः कीदृशः इत्यत्र
गौतमधर्मे आम्नायते । तद्यथा—गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्न-
प्राशनचौलोपनयनानि चत्वारि वेदव्रतानि, स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः पञ्चानां
यज्ञानां अनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणामेतेषां पञ्चकम्, पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी-
चैत्र्याश्वयुजीति सप्तपाकयज्ञसंस्थाः, अग्न्याधेयमग्निहोत्रदर्शपूर्णमासावाप्रयणं चातुर्मा-
स्यानि निरूढपशुबन्धसौत्रामणीति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः
षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽसोर्याम इति सप्तसोमसंस्था इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः ।
अष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यम-
स्पृहेति । यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणाः, न स ब्रह्मणः सायुज्यं
सालोक्यं च गच्छति । यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽपि अष्टावात्मगुणाः
अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीत्युक्तसंस्कारसंपन्नो भूत्वा

“आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः”

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेनोक्तलक्षणलक्षितस्वाभिमतैकगुरुनिकटे आदौ स्वशाखाध्ययन-
पूर्वकं सर्वविद्यामभ्यस्य द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्मचर्यव्रतीभूत्वा विद्यामभ्यसेदि-
त्यर्थः । ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं गार्हस्थ्योचितधर्मानुष्ठानं कृत्वा अथ

तथा पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं वानप्रस्थाश्रमोचितधर्मजातं विधिवत् क्रमान्निर्वर्त्य अथ सप्तयूध्वं संन्यसेदित्यर्थः ।

ब्रह्मचर्यादिधर्माः कतिविधा इत्यत आह—चतुर्विधब्रह्मचर्यमिति । अस्मिन्नर्थे काण्वायनस्मृतिरर्थतोऽनुक्रम्यते । तद्यथा—गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति ब्रह्मचारी चतुर्विधः । अस्यार्थः—तत्रोपनयनादूध्वं यस्मिन्नात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमधीते स गायत्रः । यस्तु वेदस्याग्रहणात् ब्रह्मचर्यं चरति स ब्राह्मः । संवत्सरं वेदव्रतकृत् प्राजापत्यः । आमरणं गुरुकुलवासी नैष्ठिको बृहन्नित्युच्यते ।

गार्हस्थ्यं कतिविधं इत्यत आह—षड्विधगार्हस्थ्यमिति । तथा च गृहस्था अपि षड्विधाः । तद्यथा—वार्ताकः शालीनो यायावरो घोरसंन्यासिकः उञ्छवृत्तिः अयाचितश्चेति । तत्र कृषिगोरक्षादिकृत्तया वैश्यवृत्त्या जीवन्नित्यादिक्रियापरो वार्ताकवृत्तिः । शालीनस्तु षट्कर्मनिरतो याजनादिवृत्तिः । यायावरस्तु शिष्टगृहेषु किञ्चित् किञ्चित् स्वकुटुम्बभरणोपयोगितण्डुलसंग्रही । घोरसंन्यासिकस्तु उद्धृतपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन् अहन्यहनि शिष्टजनतः तण्डुलपरिग्रही । उञ्छस्तु सिलोञ्छवृत्तिः । अयाचितस्तु यदच्छालब्धोपजीवी ।

वानप्रस्थः कतिविधः इत्यत आह—चातुर्विध्यमिति । वनस्था अपि चतुर्विधाः । तद्यथा—वैखानस औदुम्बरो वालखिल्यः फेनपाश्चेति । तत्र अकृष्टपञ्चौषधीभिः ग्रामवहिष्कृताभिः अग्निहोत्रादि कुर्वन् वैखानस इत्युच्यते । यस्तु प्रातरुत्थाय यां यां दिशं पश्यति तत्रत्यौदुम्बरीबदरनीवारश्यामाकैः नित्ययात्रापर औदुम्बरः । यस्तु जटावलकलधारी अष्टौ मासान् वृत्युपार्जनकृत्वातुर्मास्ये गृहीताशी कार्तिक्यां संगृहीतपुष्पफलत्यागी स वालखिल्यः । फेनपास्तु शीर्णपर्णफलवृत्तयः यत्र कचिद्वसन्तः कर्मपरा इति ॥

एवं ब्रह्मचर्यादिवानप्रस्थान्तधर्मजातं निर्वर्त्य नित्यादिसाधनचतुष्टयसम्पन्नो भूत्वा संसृतिवासनैषणात्रयत्यागपूर्वकं सर्वभूतेषु स्वात्मतया निर्वैरस्वान्तर्बाह्यकलनाभावाच्छान्तो दान्तः संन्यासी अस्खलितस्वरूपध्यानेन यो देहोपलक्षितस्वाविद्यापदमस्ति नास्तीति विभ्रमाभिमतिं त्यजति सोऽयं स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रम-

मुक्तो विदेहमुक्तो भवति । आवृत्तिरादरार्था । इत्युपनिषच्छब्दः प्रथमोपदेश-
समाप्त्यर्थः ॥ २ ॥

इति प्रथमोपदेशः

पारिव्राज्यस्वरूपक्रमः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो
भगवन्संन्यासविधिं नो ब्रूहीति । तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं
पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्त्वयागपूर्य्यनन्तरं तैः सह
सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा,
यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच । गुरुस्त्वं
जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वम् । अतो मदिष्टं रहस्यमेकं
वक्तव्यम् । त्वद्विना मदभिमत रहस्यं वक्तुं कः समर्थः । किमिति
चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी
सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्ति-
निवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः ।
पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्ब्रह्मस्यप्रकारनिरतिशयाकाराबलम्बिना
विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते । तत्क्रममतिरहस्यं
बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ।

भो नारद, विधिवदादावनुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रसू-
तः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कु-

लभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा,
 यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य, द्वादशवर्षसेवापुरःसरं
 सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य,
 पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म
 कुर्वन्, दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य
 गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा, ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं
 त्रिषवणमुदकस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव
 वनस्थो भूत्वा, पुरग्रामप्राक्तनसंचारं विहाय, निकिरविरहिततदाश्रि-
 तकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्य, दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य, चत्वारिंशत्सं-
 स्कारसंपन्नः, सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा,
 साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

एवं नारदेनोपदिष्टाः शौनकादिमुनयः पुनर्विशेषबुभुत्सया नारदं पृच्छन्ति ।
 सोऽपि भवद्विर्यत् पृष्ठं तत् पितामहमुखेन ज्ञातव्यमित्युक्त्वा प्रकृतयाग-
 समाप्त्यनन्तरं तैः साकं सत्यलोकं गत्व पितामहं विधिवदुपसंगम्य नारदः
 पारिव्राज्यधर्मं पृष्ठवान् इत्याह—अथेति । ब्रह्मनिष्ठापरं स्वातिरिक्तसर्वापहवसिद्धं
 ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति या अनवरतभावना सैव ब्रह्मनिष्ठा, तत्परं तन्निष्ठं
 तेन परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठिनम् । नारदः पितामहमुवाच । किमिति । सर्वेषां
 मम च गुरुस्त्वमिति । नारदेनैवं पृष्ठः परमेष्ठी दिव्यज्ञानेन तदागमनप्रयोजनं
 ज्ञात्वा त्वया यत् पृष्ठं तन्मे विराट्पुरुषेणोपदिष्टं तदुच्यते शृण्वेतदित्याह—
 नारदेनेति । किं तदित्यत्र भो नारदेति तं स्वाभिमुखीकृत्य क्रमेण संन्यासविधि-
 मुपदिशतीत्याह—भो इति । सत्संप्रदायस्थं इत्याद्याचार्यविशेषणम् । श्रोत्रियं
 अधीतसाङ्गोपाङ्गस्वाध्यायतदर्थम् । पञ्चविंशतिवत्सरं सदारो गुरुकुलवासं
 कृत्वा । “त्रिषवणमुदकोपस्पर्शी चतुर्थकालपानभक्तः स्यात्” । इति श्रुतेः ।

निकिरविरहितेत्यत्र निरतां किरं बीजावापनं यत्र तन्निकिरं, गोधूमशालीश्यामाकादि
तद्विरहितं नीवारतृणतण्डुलादितदाश्रितकर्मोचितकृत्यं देवपित्राद्युद्देशेन हव्य-
कन्यादिकं दृष्टमैहिकं श्रावणमासुष्मिकं तत्र वैतृष्यमिहामुत्रभोगवितृष्णत्वम् ।
चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्न इत्याद्युक्तार्थम् । शिष्टं स्पष्टम् । इत्युपनिषच्छब्दो
द्वितीयोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

इति द्वितीयोपदेशः

संन्यासाधिकारी

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ । भगवन् केन संन्यासः
संन्यासाधिकारी वेति । एवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चा-
त्संन्यासविधिरुच्यते । अवहितः शृणु । अथ षण्डः पतितोऽङ्ग-
विकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहर-
द्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽत्त्येते न
संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ।
पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥ १ ॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा ।

अभयं समवाप्नोति स परित्राडिति स्मृतिः ॥ २ ॥

षण्डोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी ।

पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥ ३ ॥

चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः ।

द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च ।

एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ४ ॥

साधनचतुष्टयसम्पन्नः संन्यस्तुमर्हतीति पितामहे नैवमुपदिष्टो नारदः संन्यास-
स्वरूपं तदधिकारिस्वरूपं च विविच्य ज्ञातव्यमिति स्वपितरं पप्रच्छेत्याह—
अथेति । कोऽयं संन्यासः, को वा संन्यासाधिकारी, इति प्रश्नोत्तरं एवमिति ।
आदौ तावत् संन्यासानधिकारिणं निरूपयति—अथेति । शिपिविष्टो विकसितशेफ
इत्यर्थः । उक्तार्थवैपरीत्येन यः सर्वभूताभयदः यस्य सर्वाणि भूतान्यभयं दास्यन्ति
सोऽयं संन्यासाधिकारीत्याह—पूर्वेति । केयं स्मृतिः इत्यत्र

“अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥”

इति स्मृत्यनुरोधेन साध्यसाधनेषणापरित्यागपूर्वकं निष्कामकर्मानुष्ठाता द्विजः
पूर्वसंन्यासी । सोऽयं परमहंसाश्रमाधिकारी । तद्विपरीताधिकार्यपि श्रूयते मन्त्रद्वयेन
षण्ड इति ॥ १-४ ॥

आतुरसंन्यासः

आतुरकालः कथमार्यसंमतः ।

प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः ।

नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तनः ॥ ५ ॥

आतुरसंन्यासः कथं विद्वत्संमतो भवति इत्याक्षिप्य तत्राष्टश्रद्धादिकर्मलोपेऽपि
संन्याससिद्धिकरप्रेषमन्त्रालोपादातुरसंन्यासोऽपि विद्वत्संमतो भवतीत्याह—आतुर-
काल इति । प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालः प्राणोत्क्रमणपूर्वभाविकाल एवेत्यर्थः ॥५॥

आतुरसंन्यासविधिः

आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् ।

मन्त्रवृत्तिं च कृतैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥ ६ ॥

आतुरेऽपि क्रमे चापि प्रेषभेदो न कुत्रचित् ।

न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ ७ ॥

अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत् ।

मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ ८ ॥

विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।

तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ ९ ॥

आतुरसंन्यासविधिमाचष्टे—आतुरेऽपि चेति । क्रमातुरयोः प्रैषभेदः स्यात् इत्यत आह—आतुरेऽपीति । कर्मणो मन्त्राधीनत्वं केवलकर्मणो निष्फलत्वं चाह—न मन्त्रमिति । न मन्त्रं कर्मरहितं इत्यत्र विभक्तिव्यत्ययः । केवलमन्त्र-प्राधान्येन यत्र कर्मलोपः सोऽयं आतुरसंन्यास इत्याह—विध्युक्तेति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ ६-९ ॥

देशान्तरस्थाहिताग्नेः संन्यासविधिः

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि ।

प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥ १० ॥

मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथवा जले ।

श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा ।

समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

यद्याहिताग्निर्विरक्तो दूरदेशं गतो भवति तस्य संन्यासः कथं इत्याकाङ्क्षायां मनसा वचसा कर्मणा वाप्सु प्राजापत्येष्टिं कृत्वैव संन्यसेत् नोचेत् पतितो भवतीत्याह—आहिताग्निरिति । देशान्तरगतो यदि तदा ॥ १०, ११ ॥

सतृष्णस्य संन्यासपरिग्रहे नरकप्राप्तिः

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।

तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥ १२ ॥

विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत् ।

सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥ १३ ॥

स्वातिरिक्तवस्तुवैतृष्ण्यं संन्यासहेतुः यत्र कुत्रापि सतृष्णो यदि संन्यस्यति
तस्य नरकपातः स्यादित्याह—यदेति ॥ १२, १३ ॥

वैतृष्ण्यमेव संन्यासपरिग्रहे हेतुः

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।

संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥ १४ ॥

संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।

प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥ १५ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।

तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ १६ ॥

यस्य जिह्वादिकं स्ववशे वर्तते, इतः परमलमिति यस्य संसारविरक्तिरुदेति
यस्य च ज्ञानं कैवल्यसाधनं भवति सोऽयं व्रती गृही वनी वा संन्यसेदित्याह—
यस्येति । यस्मादेवं तस्मात् ॥ १४-१६ ॥

विद्वत्संन्यासः

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।

तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥ १७ ॥

परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।

सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥ १८ ॥

पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ।

तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥ १९ ॥

अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम् ।
 इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २० ॥
 यस्मिञ्छान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम् ।
 अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्यश्रमे भवेत् ॥ २१ ॥
 यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
 कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २२ ॥
 दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
 वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ २३ ॥
 धृतिः क्षमा दमोऽस्थेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
 ह्रीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ २४ ॥
 अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि ।
 प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्यश्रमे वसेत् ॥ २५ ॥
 अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठांस्त्रिष्वन्वहिः ।
 शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्यश्रमे वसेत् ॥ २६ ॥
 प्राणे गते यथा देहः ^१सुखदुःखं न विन्दति ।
 तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्यश्रमे वसेत् ॥ २७ ॥

विद्वत्संन्यासमाह—यदेति । यस्य स्वानुरक्तिस्वातिरिक्तविरक्तिसमत्वादिकं नैजं भवति स यतितामर्हतीत्याह—परमात्मनीत्यादिना । अकिंचनं स्वातिरेकेण किंचिदस्तीति यन्मनो न मनुते तदकिंचनम् । किंच यदेति । पुनर्भङ्गचन्तरेण विद्वत्संन्यास उच्यते—दशेति । अनृणः “ब्रह्मचर्येणार्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया

^१ उ १. ‘सुखदुःखं’ इत्यारभ्य ‘विषय्य ध्यानयोगेन’ (२७-५१) इत्यन्तं मूलव्याख्याने न दृश्यते ।

पितृभ्य एष वा अनृणः” इति श्रुतेः । दशलक्षणकं धर्ममित्यंशं श्रुतिरेव व्याकरोति—धृतिरिति । भूतादिकालत्रयावच्छिन्नभोगानिच्छुमोक्षाश्रमे वसेदित्याह—अतीतानिति । निगृहीतान्तर्बाह्यवृत्तिर्मोक्षाश्रमे वसेदित्याह—अन्तरिति । किं बहुना प्राण इति ॥ १७-२७ ॥

अवैधपरिग्रहे प्रत्यवायः

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥ २८ ॥
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम् ।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते ॥ २९ ॥
विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु ।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्भातुरञ्जितम् ॥ ३० ॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ ३१ ॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढं चरेद्यतिः ॥ ३२ ॥

यतेर्देहधारणस्वाचारोपयोगिपरिग्रहं विनान्यत्र नहि परिग्रहविधिरस्ति यदि करोति तदा प्रत्यवैतीत्याह—कौपीनेति । यदि शीतभीतिस्तदा विशीर्णानीति । साम्बरा दिगम्बरा वा यतः श्रवणमनननिदिध्यासनव्यापृतिविरला यदि तदा तेषां ग्रामैकरात्रसंचारो विधीयत इत्याह—एकेति ॥ २८-३२ ॥

परिव्राजकानां धर्माः

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्णिर्ममो भवेत् ॥ ३३ ॥

रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
 प्राणिर्हिसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ॥ ३४ ॥
 दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः ।
 आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥ ३५ ॥
 इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः ।
 संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ॥ ३६ ॥
 न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
 हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ३७ ॥
 श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
 न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
 यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
 स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ ३९ ॥
 समानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
 अमृतस्यैव चाक्राङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ ४० ॥
 सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
 सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ ४१ ॥
 अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
 न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४२ ॥
 क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
 सप्तद्वारावकीर्णं च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४३ ॥
 अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः ।
 आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४४ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
 अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ४५ ॥
 अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् ।
 चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४६ ॥
 जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
 रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ४७ ॥
 मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
 देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ ४८ ॥
 सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
 सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ॥ ४९ ॥
 सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
 स्पृष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुलकसी ॥ ५० ॥
 प्रियेषु स्वेषु सुकृतमंप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
 विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥ ५१ ॥
 अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ।
 सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ५२ ॥
 एक एव चरेन्नित्यं सिद्धचर्यमसहायकः ।
 सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥ ५३ ॥

परिव्राजकधर्मानुपन्यस्यति—काम इत्यादिना । निर्ममो भवेत् स्वदेहत-
 दन्यत्र नाहंममाभिमानी भवेदित्यर्थः । मुनिः मननशीलः । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थ-
 स्पर्शास्पर्शाभ्यां बन्धमोक्षौ भवत इत्याह—इन्द्रियाणामिति । कामोपभोगतः

कामशान्तिः स्यादित्यत आह—नेति । एवं चेत् जितेन्द्रियत्वं कथं इत्यत आह—श्रुत्वेति । यद्वशे करणजातं भवति स ज्ञानफलमेतीत्याह—यस्येति । सम्यग्गुप्ते तनुभावं गते । यतिः संमानमनादित्यावमानमेव कांक्षेदित्याह—संमानादिति । किंच अतिवादान् परकृताधिक्षेपान् तितिक्षेत नावमन्येत कंचन स्वात्मधिया । “सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः” इति सप्तद्वारावकीर्णा च न वाचमनृतां वदेत् । सप्तद्वारभूतां सदा अध्यात्मरतिः । किं च इन्द्रियाणामिति । स्वाधिष्ठितदेहरूढामहंधियं स्वानर्थकरीमुत्सृज्य ब्रह्मात्मनि बुद्धिं कुर्यादित्याह—अस्थीति । शुक्लशोणितयोगजं रजस्वलम् । भूतावासाभिमतौ दोषं विशिनष्टि—मांसेति । देहगताहंमतिमहंब्रह्मास्मीति ब्रह्मण्येव कुर्यादित्यर्थः । एवं ब्रह्मानुसन्धानपरस्यापि शरीरयोगप्रभवसुकृतदुष्कृतयोरवश्यंभावित्वात्ततो ब्रह्मभावापत्तिः कुत इत्यत आह—प्रियेष्विति । ब्रह्माप्तिप्रतिबन्धकसुकृतदुष्कृतयोः प्रियाप्रियजनापहृतत्वाद्यं निष्प्रतियोगिकं ब्रह्म स्वमात्रधियैतीत्यर्थः । प्रियाप्रियेष्वपि अनेनेति ॥ ३३—५३ ॥

यतिचर्या, तत्फलं च

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ५४ ॥
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत् ॥ ५५ ॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ ५६ ॥
नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामं वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥ ५७ ॥
राजवार्त्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्त्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ॥ ५८ ॥

एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत् ।
 दद्यान्नाारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥ ५९ ॥
 एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाङ्मायकर्मभिः ।
 मृत्युं च नाभिनन्देत् जीवितं वा कथंचन ॥ ६० ॥
 कालमेव प्रतीक्षेत् यावदायुः समाप्यते ।
 नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितम् ॥
 कालमेकं प्रतीक्षेत् निर्देशं भृतको यथा ॥ ६१ ॥
 अजिह्वः पण्डकः षड्गुरन्धो बधिर एव च ।
 मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥ ६२ ॥

पुनर्यतिचर्यां तत्फलं चाचष्टे—कपालमित्यादिना । येन वाङ्मायमनांसि
 दण्डयन्ते मौनस्वल्पाशनप्राणायामोपायत इति स त्रिदण्डी महायतिः ।

“वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।

यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥”

इति श्रुतेः । एकब्रह्मावशेषेण सर्वत्र रमत इति एकारामः । कथं तत्
 राजवार्तादीति । यस्मादेवं तस्मात् एकाकीति । एकाकिना किं कर्तव्यं इत्यत
 आह—एकाकी चिन्तयेदिति । अजिह्वादिवृत्तिमान् यतिः स्वातिरिक्तभ्रमतो
 विमुच्यत इत्याह—अजिह्व इति ॥ ५४—६२ ॥

अजिह्वादीनां लक्षणम्

इदं मृष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति ।
 हितं सत्यं मित्रं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥ ६३ ॥
 अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
 शतवर्षी च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स पण्डकः ॥ ६४ ॥

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
 योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥ ६५ ॥
 तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
 चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परित्राट् सोऽन्व उच्यते ॥ ६६ ॥
 हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत् ।
 श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ॥ ६७ ॥
 सांनिध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
 सुसवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥ ६८ ॥

सूत्रभूतं वाक्यं श्रुतिरेव क्रमेण व्याचष्टे । तत्राजिह्वशब्दार्थमाह—
 इदमिति । पण्डकशब्दार्थमाह—अद्येति । पङ्गुशब्दार्थमाह—भिक्षार्थमिति ।
 अन्धशब्दार्थमाह—तिष्ठत इति । बधिरशब्दं व्याचष्टे—हितेति । मुग्धशब्दार्थं
 विशदयति—सान्निध्य इति ॥ ६३-६८ ॥

यतीनां वर्जनीयानि

नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा ।
 भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्ण पश्येत्कदाचन ॥ ६९ ॥
 रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु ।
 षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ७० ॥
 मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव च ।
 दिवास्वापं च यानं च यतीनां पातकानि पट् ॥ ७१ ॥
 दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः ।
 यतिभिः यद्यत् त्याज्यं तदेकदेशं प्रदर्शयति—नटादीत्यादिना ॥ ६९-७१ ॥

यतिभिः अनुष्ठेयानि

- सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिर्हैतुकीम् ॥ ७२ ॥
- न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः ।
- न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥ ७३ ॥
- अपापमशठं वृत्तमजिह्वं नित्यमाचरेत् ।
- इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥ ७४ ॥
- क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः ।
- निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥ ७५ ॥
- निर्ममो निरहंकारो निरपेक्षो निराशिषः ।
- विविक्तदेशसंस्तो मुच्यते नात्र संशय इति ॥ ७६ ॥

यदनुष्ठेयं तदाह—सदेति । अपापं पापपुण्यतत्फलविमुखम् । अशठं साधुजनसेव्यब्रह्मगोचरम् । अजिह्वं मौनमित्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरि-
समाप्त्यर्थः ॥ ७२-७६ ॥

आश्रमानुसारेण परिव्राज्यम्

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी
गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही
भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा
वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको
वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । तद्वैके
प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव

कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति । तस्मात् त्रैधात-
वीयामेव कुर्यात् । एत एव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम
इति ॥ ७७ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ ७८ ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः, प्राणं
गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह । आहवनीयादग्निमाहृत्य
पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा
देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं
प्राश्नीयात् सान्ज्यं हविरनामयं मोक्षदमिति । शिखां यज्ञोपवीतं
पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्या-
त्मवित् । मोक्षमन्त्रैस्तैर्धातवीयैर्विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् ।
एवमेवैतदिति ॥ ७९ ॥

यथोक्तलक्षितवृत्त्यादेर्यदहरेव वान्ताशनमूत्रपुरीषादिवत् स्वातिरिक्तप्रपञ्च-
विरतिरुदेति तदा तदहरेव प्रव्रजेत् यदि विरतिर्मन्दा तदाश्रमक्रमानुसारेण
परिव्रजेदित्याह—अप्रमत्त इति । यदि स्वात्ताश्रमपरिग्रहे मन्दविरक्त्या तत्र
मुख्यवृत्तिका चेत् ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । यदि वा इतरथा
तीव्रतरविरतिरुदेति तदा ब्रह्मचर्यादिव प्रव्रजेत् । विरजेत् तीव्रतरविरागी
स्यात् । यस्मादेवं तस्मात् । “ब्रह्मचर्यं समाप्य” इत्यारभ्य “तद्ब्रह्म
तदुपासितव्यम्” इत्यन्तं जाबालोपनिषदि चतुर्थखण्डे जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे
प्रायशः प्रतिपदं व्याख्यातम् ॥ ७७-७९ ॥

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः । कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण
इति । तमाह पितामहः ॥ ८० ॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेदबुधः ।

यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ८१ ॥

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।

तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥ ८२ ॥

येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ।

तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥ ८३ ॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः ।

ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।

धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिद्यो नाशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ८५ ॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।

ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ८६ ॥

अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।

स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ ८७ ॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।

तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥ ८८ ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मणं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति ॥ ८९ ॥

संन्यासस्य शिखायज्ञोपवीतत्यागापूर्वकत्वात् कथमयं ब्राह्मणपदमर्हतीति नारदः पितामहं पृच्छतीत्याह श्रुतिः—पितामहमिति । तमाह पितामहः । किमिति—सशिखमिति । “सशिखम्” इत्यादि “ब्रह्मविदो विदुः” इत्यन्तं ब्रह्मोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ ८०—८९ ॥

परमहंसस्य अवधूताश्रमस्य वा परिग्रहः

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेत् । अथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा स्वपुत्रमित्रकलत्रासवन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सत्कर्माणि संन्यास्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितः; निन्दाहंकारमत्सरगर्वदम्भेर्वासूयेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य, स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा, स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बहिरमन्यमानः, कस्यापि वन्दनमकृत्वा न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् । यदृच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन् परिग्रहेत् । नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथङ् न त्वन्यत्र अनिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झर-

स्थण्डिलेषु, वने वा, श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासःसंवर्तकदत्तात्रेय-
रैवतकवदय्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्त-
वदाचरंस्त्रिदण्डं शिष्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं
भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य ॥ ९० ॥

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुम् ।

सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् ॥ ९१ ॥

आत्मानमन्विच्छेत् । यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह-
स्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले
करपात्रेणान्येन वायाचिताहारमाहरन्, लाभालाभौ समौ भूत्वा
निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः
संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमर-
कीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति । स
कृतकृत्यो भवति इत्युपनिषत् ॥ ९२ ॥

यत्तरेव मुख्यं ब्राह्मण्यं विदित्वा परिव्रज्य पारमहंस्यमवधूताश्रमं वा
गच्छेदित्याह—तदेतदिति । यदि शीताद्यसहिष्णुस्तदा परिव्राट् । श्रवणादिसत्-
कर्माणि । शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुः । अशनायादिः षड्भूमिः । स्वयमेवानन्तरम-
वाह्यं ब्रह्मेति भावनया स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बहिरमन्यमानः कस्यापि बन्धनम-
कृत्वा सेव्यसेवकहेतुदेहाभिमतवैरव्यात् यादृच्छिको भवेत् स्वातन्त्र्येणैकाकी
संचरेदित्यर्थः । यदृच्छालाभसन्तुष्टः स्वप्रयोजनाभावात् । न मन्त्रं नामन्त्रं
प्रथमार्थे द्वितीया । स्वातिरेकेणावाहनविसर्जनमन्त्रामन्त्रध्यानोपासनलक्षणीया-
लक्षणीयलक्ष्यालक्ष्यभेदाभेदकलनावैरव्यात्, अत एव अनिकेतः स्थिरमतिः ।
अवधूतस्य कृतकृत्यत्वेन श्रवणादिकर्तव्याभावादनिकेतस्थिरमतित्वं युज्यत इत्यर्थः ।

तेषां निवासस्थलमाह—शून्येति । प्रशस्तावधूतपुगानाम निर्दिशति—श्वेत-
केत्विति । यः कोऽप्यव्यक्तलिङ्गः अस्खलितस्वस्वरूपानुसंधानेन कालं
नयेदित्यर्थः । यदि कुटीचकादिः अवधूतचर्यामिच्छति तदा त्रिदण्डमिति ।
यदि परमहंसस्तदा कटिसूत्रं चेति । ततः किं इत्यत्र—

“आत्ममात्रमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किंचन ।”

इति श्रुत्यनुरोधेन आत्मानमन्विच्छेत् । तत्त्वब्रह्ममार्गे तत्प्रापकज्ञान-
वर्त्मनि । करपात्रेणान्येन वा आस्याहारेणेत्यर्थः । अयाचिताहारमाहरन्
तत्रापि लाभालाभौ समौ भूत्वा निर्ममः । “शुक्लतेजोमयं ब्रह्म” इति
श्रुत्यनुरोधेन शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः स्वातिरिक्तप्रपञ्चनिवृत्तिप्रवृत्ति-
रूपशुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः यत् स्वातिरिक्तं तत् संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधः
यज्जाग्रज्जाग्रदादितुष्षडशकलनापहवसिद्धं तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्म-
रन् भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयतनिरूपितात्मात्मीयाभिमतिमुत्सृज्य यः
स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमसंन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो विदेहमुक्तो
भवति इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः तृतीयोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ ९०-९२ ॥

इति तृतीयोपदेशः

यतिधर्माणां तत्फलस्य चोपन्यासः

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च ।

आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ १ ॥

नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् ।

वयो वृत्तं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥ २ ॥

न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।

कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येद्विखितामपि ॥ ३ ॥

एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः ।

चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥ ४ ॥

तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये ।

शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः ॥ ५ ॥

अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।

प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः ।

प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो ब्रजेदधः ॥ ६ ॥

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।

संमाननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥ ७ ॥

प्रतिग्रहं न गृहीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत् ।

प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥ ८ ॥

जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।

श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमोहौ त्यजेद्यतिः ॥ ९ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।

अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥ १० ॥

अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।

उपेक्षा धैर्यमाधुर्यं तितिक्षा करुणा तथा ॥ ११ ॥

हीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः ।

एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥ १२ ॥

४५

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः ।

तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥ १३ ॥

एकरात्रं वसेद्भामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।

सर्वाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥ १४ ॥

द्विरात्रं न वसेद्भामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।

रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥ १५ ॥

ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्मानिकेतनः ।

पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १६ ॥

एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।

अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥ १७ ॥

शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन् ।

पर्यटेत् सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥ १८ ॥

न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोनैव पर्यटन् ।

न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च ॥ १९ ॥

एकरात्रं वसेद्भामे प्रत्तने तु दिनत्रयम् ।

पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ।

वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत् स्थाने पुण्यजलावृते ॥ २० ॥

आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम् ।

अन्धवज्जडवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥ २१ ॥

स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः ।

हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२ ॥

मौनं योगासनं योगस्तिक्तिसैकान्तशीलता ।

निःस्पृहत्वं समत्वं च ससैतान्येकदण्डिनाम् ॥ २३ ॥

परमहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः ।

अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥ २४ ॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोऽस्थिसंहतौ ।

विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् । २५ ॥

क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः ।

क्व चाङ्गशोभासौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६ ॥

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।

देहे चेत्यप्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ २७ ॥

स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।

अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८ ॥

चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।

ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम् ॥ २९ ॥

न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः ।

निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥ ३० ॥

मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः ।

एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥

लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम् ।

निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥ ३२ ॥

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।

न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥ ३३ ॥

तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मव्रतमनुव्रतम् ।

गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ३४ ॥

संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।

अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥ ३५ ॥

तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः ।

लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ इति ॥ ३६ ॥

ब्रह्मातिरिक्तास्तिताहेतुधर्मपूगत्यागपूर्वकं ब्रह्ममात्रसिद्धिताहेतुयतिधर्मान् तत्फलं चोपन्यस्यति—“त्यक्त्वा” इत्यादिना “इति ब्रह्मानुशासनम्” इत्यन्तेन । कदाचित् केनचिदपि स्वस्य नामगोत्रादिवरणम् । स्वपतनहेतुरागतः स्त्रीसंभाषणस्मरणतत्कथालापचित्रस्थवनितादर्शनादिकं यतिना त्याज्यमित्याह—नेति । किं च इदं मे स्यात् इदं मा भूत् इति तृष्णा । माया परवञ्चना । अनात्मशास्त्रव्याख्यानयोगश्च । आरामालयादिकर्तव्यधिया याचनवृत्तिः । गर-शब्देन विषमुच्यते । यं कंचन स्वनिकटमागतं आगच्छेति । कदापि प्रतिग्रहं न गृह्णीयात् । यदि कदाचित् जायादीनां शुभाशुभं श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत् । तद्विषयकशोकमोहौ त्यजेद्यतिः । यतेः स्वधर्ममाह—अहिंसेति । क्षान्तिः सहनम् । यदृच्छ्या लघ्वशनम् । एवं धर्मपूगसंस्कृतो योगी नारायणो भवतीत्याह—निर्द्वन्द्व इति । यदि श्रवणध्यानादिध्यापृत्युपरतस्तदा एकरात्रमिति । ग्रामैकरात्रस्थितावपि ग्रामान्त इति । परमहंसोऽवधूतो वा यथेच्छाचरणतः सन्मार्गदूषणं न कुर्यात् इत्याह—एकवासा इति । अलोलुपः सर्वत्र लौल्य-वर्जितः । प्राण्यहिंसार्थं वीक्ष्यन्निति । संचारप्रतिषेधकालदेशावाह—नेति । शून्ये निर्मानुष्ये । ग्रामादौ वासकालमाह—एकरात्रमिति । चातुर्मास्यानन्तरं आत्मवदिति । यथा अन्धादिः रूपादिभेदं न पश्यति तथेत्यर्थः । वन्यादीनां

ज्ञाननियममाह—ज्ञानमिति । परमहंससेवनीयधर्मः कः इत्यत्र—मौनमित्यादि । वागादिकरणव्यापृतिराहित्यमेव मौनम् । योगानुकूलपद्मासनं सिद्धासनं वा योगासनमुच्यते । प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुसंधानं योगः । परमहंसस्य मनोमलक्षालनमेव ज्ञानमित्याह—परमहंसेति । “ज्ञानं मनोमलत्यागः” इति श्रुतेः । देहरतेः कृमिसाम्यमाह—त्वगिति । देहहेयधियं प्रकटयति—केति । ग्राम्यविषयं कुत्सयति—स्त्रीणामिति । लिङ्गाद्यपेक्षया ज्ञानस्य प्राधान्यं विदुषः कृतकृत्यतां चाह—न तस्येति । ब्रह्ममात्रदृष्टेः ब्राह्मणादिवर्णाश्रमभेदानुपलम्भात् अभि-
शस्तपतितवर्जनपूर्वकं “सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कुर्यात्” इति च श्रुतेः । अलिङ्गस्य ब्राह्मणत्वमाचष्टे—यमिति । कश्चिद्भ्रूकः यं मुनिं सत्त्वेनासत्त्वेन विद्वत्त्वेनाविद्वत्त्वेन सुवृत्तत्वेन दुर्वृत्तत्वेन वा न वेद । एवं वेदनलिङ्गदर्शनात् स ब्राह्मणः । यद्वा यः कश्चित् योगी यमात्मानं देहत्रयात्मना सन्तं प्रत्यग्रूपेण न चासन्तं स्वाज्ञादिदृष्ट्या कदापि नाश्रुतं न बहुश्रुतं वृत्तप्रकटनहेत्वन्तः-
करणाभावात् सुवृत्तं न दुर्वृत्तं तत्सर्वापहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकस्वमात्रधिया वेद स मुनिः वेदनसमकालं ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वरिष्ठो ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । तथाच श्रुतिः—

“य एवं निर्वीजं वेद निर्वीज एव स भवति ।” इति,

“दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।

य आस्ते कपिशार्दूलं ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयम् ॥” इति च ॥

यस्मात् अलिङ्गस्यावधूतस्वातिरिक्तप्रपञ्चदृष्टेः ब्राह्मणत्वमभिहितं तस्मात् ॥ तं दृष्ट्वा स्वातिरिक्तकलनाशान्तमनसं तथा कदा भविष्याम इति स्पृहयन्ति दिवौकसः । स्वातिरिक्तास्तित्वलिङ्गं यदा न प्रतिभाति तदैव कैवल्यमिति ब्रह्मा नारदमनुशास्तीत्यर्थः ॥ १-३६ ॥

क्रमसंन्यासविधिनिर्णयणम्

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ ।

पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं

कृच्छ्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्यात् देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतपितृमात्रा-
 त्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात् । प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्, देवश्राद्धे
 ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्, ऋषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन्, दिव्य-
 श्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्, मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमार-
 सनत्सुजातान्, भूतश्राद्धे पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि
 चतुर्विधभूतग्रामान्, पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्, मातुः
 श्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीः, आत्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान्,
 जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति । सर्वत्र
 युग्मकल्पत्या ब्राह्मणानर्चयेत् । एकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्व-
 शाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्त-
 विधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य, पिण्डप्र-
 दानानि निर्वर्त्य, दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा,
 शेषकर्मसिद्धार्थं सप्तकेशान्विसृज्य शेषकर्मसिद्धार्थं केशान्सप्ताष्ट
 वा द्विजः संक्षिप्य वापयेत्केशश्मश्रुनखानि चेति सप्तकेशान्संरक्ष्य
 कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा, सायंसंध्यावन्दनं निर्वर्त्य, सहस्र-
 गायत्रीं जप्त्वा, ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य, स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य, स्व-
 शाखोपसंहरणं कृत्वा, तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वा-
 हुतिविधिं समाप्य, आत्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वा, आच-
 मनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य, स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा,
 पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा, चतुर्थयामान्ते स्नात्वा, तदग्नौ
 चरुं श्रपयित्वा, पुरुषसूक्तेनान्नं षोडशाहुतीर्हुत्वा, विरजाहोमं

कृत्वा, अथाचम्य, सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णं पात्रं धेनुं दत्त्वा, समाप्य,
ब्रह्मोद्गासनं कृत्वा,

“सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः ।

सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं
करोतु मा ॥ ” इति ॥

“या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम् ।

अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरुणि ॥

यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम् ।

जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि ॥ ”

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य, ध्यात्वाग्निं, प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्गा-
स्य, प्रातः संध्यामुपास्य, -सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा,
नाभिदघ्नोदकमुपविश्य, अष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्गासनं कृत्वा,
सावित्रीं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा,

“अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो
वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः ।
इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ ”

“यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव ।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ॥ ”

“शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां
भूरि विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः । श्रुतं मे
गोपाय ॥ ”

“दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्”
 “ओं भूः संन्यस्तं मया” “ओं भुवः संन्यस्तं मया” “ओं
 सुवः संन्यस्तं मया” “ओं भूर्भुवःसुवः संन्यस्तं मया” इति
 मन्द्रमध्यतारध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्य, “अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः
 सर्वं प्रवर्तते स्वाहा” इत्यनेन जलं प्राश्य, प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं
 प्रक्षिप्य “ओं स्वाहा” इति शिखामुत्पाद्य,

“यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥”

“यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रम् ।

परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ ॥”

इति यज्ञोपवीतं छित्वा, उदकाञ्जलिना सह “ओं भूः समुद्रं
 गच्छ स्वाहा” इत्यप्सु जुहुयात् । “ओं भूः संन्यस्तं मया”
 “ओं भुवः संन्यस्तं मया” “ओं सुवः संन्यस्तं मया” इति
 त्रिरुक्त्वा, त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जलं प्राश्याचम्य, “ओं भूः
 स्वाहा” इत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य, सर्वकर्मनिवर्तकोऽह-
 मिति स्मृत्वा, जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपानुसंधानपूर्वकमूर्ध्वबाहु-
 रुदीचीं गच्छेत् ॥ ३७ ॥

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेत् । गुरोः प्रणवमहावाक्योपदेशं
 प्राप्य, यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति,
 फलपत्रोदकाहारः, पर्वतवनदेवतालयेषु संचरेत् । संन्यस्याथ

दिगम्बरः सकलसंचारकं सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्माति-
दूरलाभः प्राणधारणपरायणः फलरसत्वक्पत्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी
गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मरंस्तारकम् ॥ ३८ ॥

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैः 'तिष्ठ
तिष्ठ महाभाग, दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण, प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं
गुरुनिकटमागच्छेत्' इत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां
कमण्डलुम्, पादादिमस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकाकपृष्ठं सलक्षणं
वैणवदण्डमेकमाचमनपूर्वकम्

“सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्तघ्नः
शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय ॥”

इति दण्डं परिग्रहेत् । 'जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा
मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्य' इति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य,
'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' इति 'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्'
इति 'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्', इति कटिसूत्र-
कौपीनवस्त्रम्, आचमनपूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा, कृतार्थोऽह-
मिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेत् । इत्युपनिषत् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मणैवमनुशासितो नारदः क्रमसंन्यासविधिबुभुत्सया पितामहं पृच्छती-
त्याह—अथेति । पितामहस्तु नारदप्रश्नमङ्गीकृत्य प्रतिवचनमाह—तथेति ।
प्राजापत्यादिकृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्यात् ॥ अष्टश्राद्धानि कानि
इत्यत्र—देवर्षीति । देवादिश्राद्धे विश्वेदेवादिवरणक्रममाह—प्रथममिति । सायं-
सन्ध्यादिशेषकर्मसिद्धयर्थम् । वक्ष्यमाणमन्त्रद्वयेन प्रकृताग्निमात्मसमारोपणं

कुर्यादित्याह—सं मा सिञ्चन्त्वित्यादिना । अहं वृक्षस्येत्यादिमन्त्रद्वयं पठित्वा प्रेषोच्चारणं कुर्यादित्याह—अहमिति । अहं वृक्षस्येति मन्त्रद्वयं पठित्वा अथ दारेषणायाश्चेति । यदि पूर्ववत् विद्वत्संन्यासी चेत् तदा गुरोरिति । अहमेव परमात्मा मन्त्रः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्तः । ततः किम्—इत्यत्र यद्येवं विद्वत्संन्यासी स्वातिरिक्तप्रपञ्चवासनां संन्यस्याथ दिगम्बरः सकल-लोकसंचारकं तद्भ्रममुत्सृज्य सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः विश्रान्त-पूर्णानन्दात्मस्वान्तः कर्मातिदूरलाभः सर्वकर्मत्यागलब्धहर्षः केवलप्राणधारण-परायणः । ततो विमुक्तो भवतीत्यत्र—

“ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥”

इति स्मृतेः । यद्ययं विविदिषासंन्यासीति । सखा मा गोपाय—इति मन्त्रेण दण्डं परिग्रहेत् । कटिसूत्रकौपीनवस्त्रं आचमनपूर्वकं स्वीकृत्य गुरुनिकटं गत्वा तन्मुखात् प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य स्वाश्रमोचिताचारं कुर्वन् संशयादिपञ्चदोषनिवृत्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणादि कृत्वा यदि कृतार्थस्तदा योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा । चतुर्थोपदेशसमाप्त्यर्थोऽयमित्युपनिषच्छब्दः ॥३७—३९॥

इति चतुर्थोपदेशः

कर्मसंन्यासस्वाश्रमाचरणयोरविरोधः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ । भगवन् सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते । ततः पितामह उवाच । शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिर्यथा-वस्थाः सन्ति । तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्त-दनुकूलाचाराः सन्ति । तथैव चेद्भगवन् संन्यासाः कतिभेदास्त-

दनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति । तथेत्यङ्गीकृत्य
तं पितामहेन ॥ १ ॥

कर्मत्यागकर्माचरणयोः विरोधं मन्यमानो नारदः पृच्छतीत्याह—अथेति ।
पितामहं नारदः पप्रच्छ । किमिति—भगवन्निति । नारदेनैवं पृष्ठः सन्
प्रश्नोत्तरं भगवानाह—तत् इति । ततः पितामह उवाच । किमित्यत्र—
शरीरस्येति । देहत्रयावच्छिन्नजीवस्य जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयवत्त्वेन कर्मभक्ति-
वैराग्यज्ञानसंभवात् । एवमवस्थाचतुष्टयावच्छिन्नप्राणिनः तदनुकूलाचारा भवन्तीति
स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युक्तम् । स्वाश्रमाचारसंपत्तिस्तु व्रतिगृहिवनिसेव्य-
श्रौतस्मार्तकर्मसामान्यसंन्यासपूर्वकं प्राणधारणोपयोगिपरिग्रहश्रवणादिसाधनसंपत्ति-
रित्यर्थः । एकस्यैव सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं स्वाश्रमाचारपरत्वमुपपद्यते । नारदेन
यत् पृष्ठं तत् तथेत्यङ्गीकृत्य तं प्रति पितामहेनैवमुक्तम् ॥ १ ॥

संन्यासचातुर्विध्यम्

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत्—तत्त्वतस्त्वेक एव
संन्यासः, अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य, वैराग्य-
संन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातु-
र्विध्यमुपागतः ॥ २ ॥

किमिति—संन्यासभेदैः आचारभेदः कथमिति चेत् इत्येवं मन्यसे
यदि तदा शृण्वेत्तत् । स केन भिद्यत इत्यत्र—अज्ञानेनेति । त्रैविध्यमेत्य
वर्तते । विद्वद्विविदिषातुरभेदात् स पुनश्चातुर्विध्यमुपागत इत्याह—वैराग्येति ॥ २ ॥

वैराग्यसंन्यासः

तद्यथेति । दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्य-
कर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ ३ ॥

तथैव प्रतिपाद्यते सर्वानर्थहेतुदुष्टमदनाभावाच्चेति । चशब्दतस्तत्प्रतीत्य-
भावो द्योत्यते । विषयसामान्यवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात् संन्यस्तः
स वैराग्यसंन्यासी । स्वातिरिक्तनश्वरहेयबुद्ध्या यः सर्वत्यागः स वैराग्यसंन्यास
इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ज्ञानसंन्यासः

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतः क्रोधेष्वर्ष्या-
सूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वर्त्य दारैपणाधनैषणालोकैष-
णात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव
प्राकृतिर्यं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति
स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ ४ ॥

ज्ञानसंन्यासस्वरूपमाह—शास्त्रेति ॥ ४ ॥

ज्ञानवैराग्यसंन्यासः

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानु-
संधानेन जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥ ५ ॥

विशिष्टज्ञानवैराग्यसंन्यासमाह—क्रमेणेति । क्रमेण वेदान्तजातं सर्व-
मभ्यस्य सर्वमनुभूय सर्वापह्ववसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ज्ञानं
ब्रह्मातिरिक्तसर्वस्यासंभवालोचनं वैराग्यं ताभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानु-
सन्धानेन सर्वं विस्मृत्य यो जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी
इत्यर्थः ॥ ५ ॥

कर्मसंन्यासः

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-
भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्यसंन्यासी ।

विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी । विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥७॥

कर्मसंन्यासस्वरूपं विशदयति--ब्रह्मचर्यमिति । विधिवत् ब्रह्मचर्यं समाप्येति । विषयानभिज्ञतया ब्रह्मचर्यसंन्यस्तं स्तौति—ब्रह्मचर्येणेति । तस्य सर्वात्मभावारूढतया पश्यद्दृष्टिवैचित्र्यात् सर्वरूपत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥६, ७॥

निमित्तानिमित्तभेदेन कर्मसंन्यासस्य द्वैविध्यम्

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यास-
श्चेति । निमित्तस्त्वातुरः अनिमित्तः क्रमसंन्यासः । आतुरः
सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः स निमित्तसंन्यासः ।
दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥८॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्भोता वेदिषदतिथिर्दुरोगसत् ।

नृषद्वरसदृतसद्वचोमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥९॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्य क्रमेण यः संन्यस्यति स
संन्यासोऽनिमित्तसंन्यासः ॥ १० ॥

निमित्तानिमित्तभेदेन कर्मसंन्यासस्य द्वैविध्यमाह—कमेति । निमित्तानिमित्तशब्दार्थमाह—निमित्तस्त्वातुरः, अनिमित्तः क्रमसंन्यास इति । निमित्तसंन्यासार्थं विशदयति—आतुर इति । अनिमित्तस्वरूपमाह—दृढाङ्ग इति । ऋतं बृहत् इति मन्त्रानुरोधेन ब्रह्मैवर्तं ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरम् ॥ ८-१० ॥

✓ कुटीचकादिभेदेन संन्यासः षड्विधः

संन्यासः षड्विधो भवति, कुटीचको बहूदको हंसः परम-
हंसस्तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥ ११ ॥

कतिविधः संन्यासः इत्यत्र कुटीचकादिभेदेन षड्विधः इत्याह—संन्यास इति । तत् कथं कुटीचक इति ॥ ११ ॥

✓
कुटीचकलक्षणम्

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्था-
धरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्त्यादिमन्त्रसाधनपर
एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ १२ ॥

✓
बहुदकलक्षणम्

बहुदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो
मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥ १३ ॥

✓
हंसलक्षणम्

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंकल्पमाधूकरा-
न्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ १४ ॥

✓
परमहंसलक्षणम्

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः
करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा
भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥ १५ ॥

तेषां लक्षणं क्रमेण स्पष्टयति—कुटीचक इति । त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी
त्रिपुण्ड्रं ऊर्ध्वपुण्ड्रं वा यथासंभवं धरति नोभयमित्यर्थः । असंकल्पमाधू-
करान्नाशी अस्य गृहेऽथ माधूकरं मे स्यादिति संकल्पपरहितः ॥ १२-१५ ॥

तुरीयातीतलक्षणम्

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये,
देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ १६ ॥

अवधूतलक्षणम्

अवधूतस्त्वंनियमोऽभिशास्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगर-
वृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ १७ ॥

गोमुखः गोवत् यदृच्छालब्धान्नमुखप्रसनात् । तथा च वक्ष्यति—
“आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः” इति । कुणपवच्छरीरवृत्तिकः
यथा कुणपो निश्चेष्टः तथा निर्विकल्पकसमाधिकवच्छित्तव्यापृतित्वात् ॥ १६, १७ ॥

जीवतः आतुरस्य क्रमसंन्यासः

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥ १८ ॥

यद्यातुरो जीवति तेन किं कर्तव्यमित्यत आह—आतुर इति । गुरुमुखतः
ःणत्रमहावाक्यादिस्वीकार एव क्रमसंन्यासः न त्वष्ट्राद्वादिः तस्य प्रेषोच्चारण-
समकालमक्रियत्वात् ॥ १८ ॥

कुटीचकादीनां संन्यासविधिः

कुटीचकवहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत्कुटीच-
कानां संन्यासविधिः ॥ १९ ॥

कुटीचकादीनां संन्यासविधिः कथं इत्यत आह—कुटीचकेति । कुटीच-
कानां संन्यासविधिः समानः ॥ १९ ॥

परमहंसादित्रयाणां संन्यासविधिः

परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः सर्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः । संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चेन्न कन्थालेशः नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किंचित् । प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि । बहूञ्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विस्लापनं गिरा, पाण्यादिना संभाषणं, नान्यभाषाविशेषेण, न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासंभाषणम्, न यतेर्देवपूजानुत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥२०॥

परमहंसादित्रयाणां परमहंसतुर्यातीतावधूतानाम् । यदि परमहंसश्रवणार्थी तदा दण्डादिकं स्वीकृत्य संशयादिपञ्चदोषशान्तिपूर्वकं यावद्ब्रह्मापरोक्षो जायते तावत्सर्वकर्मसंन्यासकालेऽपि संन्यासदशायामपि ।

“शृण्वन्त्यज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्चट्टणोम्यहम्”

इति श्रुत्यनुरोधेन अलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य श्रवणादिजन्यज्ञाने सिद्धे । तदनन्तरमिति । अवधूताश्रमेऽपि कन्थादिकं ग्राह्यमेवेत्यत आह—नेति । यत्किंचिदपि नाध्येतव्यः । गिरा वृथाकथनम् । पाण्यादिना संभाषणं हस्तादिसंज्ञया व्यापृतिपरो न भवेदित्यर्थः । स्वभिन्नधिया न यतेर्देवपूजानुत्सवदर्शनम् । यतिना तत्रापि स्वात्मदर्शनमेव कार्यमित्यर्थः । तथा तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ २० ॥

कुटीचकादीनां भिक्षाविशेषः

पुनर्यतिविशेषः । कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा, बहूदकस्यासंकूलसमाधूकरम्, हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकबलम्, परमहंसस्य पञ्चगृहेषु

करपात्रम्, फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्य, अवधूतस्याजगरवृत्तिः
सार्ववर्णिकेषु । यतिनैकरात्रं वसेत् । नैकस्यापि नमेत् । तुरीया-
तीतावधूतयोर्न ज्येष्ठः । यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः ।
हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन यानाधिरूढो न
क्रयविक्रयपरो न किञ्चिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी ।
न यतेः किञ्चित्कर्तव्यमस्ति । अस्ति चेत्सांकर्यम् । तस्मान्मननादौ
संन्यासिनामधिकारः ॥ २१ ॥

पुनर्यतिविशेषः । कुटीचकादीनां भिक्षाविशेष उच्यते—कुटीचकस्येति ।
यत्र कुत्रापि यतिः नैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत् गुरुज्येष्ठादिवन्दनं कार्य-
मिति चेत्तत्र—तुरीयातीतेति । तुरीयातीतादेः ज्ञानज्येष्ठत्वात् तस्य प्रवृत्ति-
निवृत्तपराङ्मुखत्वेन किञ्चिदपि कर्तव्याभावमाह—हस्ताभ्यामिति । कदापि न
यतेः किञ्चित् कर्तव्यमस्ति । अस्ति चेत् तदा भवति साङ्कर्यम् । यस्मात्
एवमुक्ताचरणतो ब्रह्मादिसाङ्कर्यं भवति तस्मात् । आदिशब्देन ब्रह्मभावापत्त्या
प्रवृत्तिनिवृत्तिप्राप्ततूष्णीमवस्थानं द्योत्यते ॥ २१ ॥

तेषां प्राप्यस्थानानि

आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकमुवर्लोकौ, बहूदकस्य स्वर्गलोको,
हंसस्य तपोलोकः, परमहंसस्य सत्यलोकः, तुरीयातीतावधूतयोः
स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ २२ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेबरम् ।

तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥ २३ ॥

ज्ञानाविकलकुटीचकादीनां प्राप्यमुच्यते—आतुरेति । यदि सविशेषज्ञानी
तदा तस्य परमहंसस्य सत्यलोकः । यदि निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनौ तुर्यातीतावधूतौ

भवतः तदा तयोः तुर्यातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यम् । यत एव स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ब्रह्मभावापत्तिर्भवति अत एव स्वस्वरूपानुसंधानं सदा कार्यमित्यर्थः । किमर्थं सदा स्वरूपानुसंधानं कर्तव्यमित्याकांक्षायां निर्विशेषज्ञानिनो ज्ञानसमकालमेव मुक्तत्वेऽपि सविशेषज्ञानिनस्तदभावात् सदा स्वरूपानुसंधानं कर्तव्यमित्याह—यमिति । चरमदशायां यं यं वापीति । तथाच स्मृतिरपि—

“अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥”

इति ॥ २२, २३ ॥

ब्रह्मानुसन्धानमेव कर्तव्यम्, नान्यत्

तदैवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत् । तदाचारवशात्तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः । अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः । कार्यभेदात्कारणभेदः । तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम् । वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति । तत्तद्भूतिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४ ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।

सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥ २५ ॥

तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थाया-

मपि तादृगवस्था भवति । स जीवन्मुक्त इति वदन्ति । सर्वश्रुत्यर्थ-
 प्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति । भिक्षुनैहिकामुष्मिकापेक्षः ।
 यद्यपेक्षास्ति चेत् तदनुरूपो भवति । स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्य-
 शास्त्राभ्यासैः उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्वचर्यः । न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न
 सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः । इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति
 चेच्छ्वालंकारवत् । चर्मकारवदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरः । न प्रणव-
 कीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवदतः
 सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजे-
 द्विभुः । बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत, कालमेव
 प्रतीक्षेत निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति ॥ २६ ॥

यदेवं श्रुतिस्मृतिव्याघातं तदैवं ज्ञात्वा सविशेषज्ञानी स्वरूपानुसंधानं
 विनान्यथाचारपरो न भवेत् ब्रह्माहमस्मीति सदानुसंधानं कुर्यादित्यर्थः । अन्य-
 थाचारपरत्वे बाधकमाह—तदाचारवशात्तत्तल्लोकप्राप्तिरिति । निर्विशेषज्ञानि-
 नोऽपि तथा स्यादिति चेन्न तस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावापन्नत्वेन स्वातिरिक्त-
 प्रवृत्तिनिवृत्तिकल्पनासंभवात् । सविशेषज्ञानिनोऽपि तथा स्यादिति चेन्न सविशेष-
 ज्ञानिनः स्वातिरिक्तजाग्रदादिप्रपञ्चप्रतीतिसंभवात् । ब्रह्मानुसंधानं विनान्यथाचारपरो
 न भवेदित्याह—ज्ञानेति । अपरब्रह्मगोचरज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव
 मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिः यदि सर्वत्राचारप्रसक्तिः तदाचारोऽनर्थाय
 भवेदित्यर्थः । तत् कथं इत्यत्र स्वातिरिक्तजाग्रदादिविभ्रमावृतदृष्ट्या जाग्रत्स्वप्न-
 सुषुप्तिष्वेकशरीरस्य तदवच्छिन्नजीवस्यावस्थाभेदेन नामव्यापारादिकं भिद्यते
 तद्यथा जाग्रत्काल इति । तासु जाग्रदाद्यवस्थासु वागादिचतुर्दशकरणानां
 बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयः सन्ति । चत्वारः चतस्रः । कास्ताः इत्यत्र—मन इति ।
 तासां पृथगाचारभेदः । तत् कथं नेत्रस्थमिति । विश्वादिरूपेण नेत्रादिप्रविभक्त-

जाग्रदाद्यवस्थात्रयं भासयन् योऽहं मूर्ध्नि तुर्यरूपेणावस्थितोऽस्मि सोऽहमात्मानं
तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा तज्ज्ञानमहिम्ना कृतकृत्यो भवामि । किंच—जागरित
इति । यथा सुषुप्त्यवस्थापन्नो विषयजातं न हि विजानाति तथा जागरितेऽपि
श्रोत्रादिकरणेन यद्यत् श्रुतं यद्यत् दृष्टं तत् सर्वमविज्ञातमिव यो वर्तते तस्य
स्वप्नावस्थायामपि सुषुप्तवद्विषयभेदं न हि गृह्णाति स जीवन्मुक्त इति
वदन्ति । तथा च वक्ष्यति—

“स्वप्नेऽपि यो हि युक्तस्य जाग्रतीव विशेषतः ।

ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥”

इति । तथाविधस्यापि यदि स्वातिरिक्तविषयाकांक्षा स्यात् तदा तस्मिन् काले
विदेहो देहस्मरणवर्जितः—“ईषन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वसमन्वितः” इति
श्रुत्यनुरोधेन स्वरूपतः च्युतिः स्यादित्याह—भिक्षुरिति । यद्यपेक्षास्ति
चेत्तदनु रूपो भवति । अन्यशास्त्राभ्यासैः अन्यशास्त्राभ्यासः । यत् एवं
स्वातिरिक्तास्तित्वप्रवृत्तितो महाननर्थो जायते । निर्विकल्पकब्रह्मानुसंधानं स्वात्मानं
करपात्रं दिगम्बरं अवधूतप्रवृत्तिनिवृत्तिं दृष्ट्वा परिब्रजेत् भिक्षुः कदापि ।
बालोन्मत्तेति निर्देशनिर्वेशभृतकन्यायेन परिव्राडिति ॥ २४-२६ ॥

अननुसन्धाने पातित्यम्

तितिक्षाज्ञाच्चवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥ २७ ॥

न दण्डधारणेन न मुण्डनेन

न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥ २८ ॥

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।

स याति नरकान्घोरात्महारौरवसंज्ञिकान् ॥ २९ ॥

प्रतिष्ठा सूकरीविष्टासमा गीता महर्षिभिः ।

तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥ ३० ॥

सविशेषज्ञानी निर्विशेषज्ञानसाधनमननुष्ठाय केवलवेषमात्रतः साधुवृत्तिकर्शको भूत्वा स्वयमपि नश्यतीत्याह—तितिक्षेति । निर्विशेषज्ञानमुख्यसाधनतितिक्षा-ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । “न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति” इति स्मृतेः ॥ परमदयावती श्रुतिरियं परिव्राजकधर्मपूगं बहुप्रकारेण प्रतिपाद्यापि पुनः पुनः जामितां त्यक्त्वा प्रकटयतीत्याह—ज्ञानेत्यादिना । तद्विपर्यये काष्ठदण्ड इति । अयं सर्वोत्तम इति ॥ २७-३० ॥

तुर्यातीतानां भोजनादिकं अन्यदीयेच्छयेव

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् ।

परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥ ३१ ॥

तुर्यातीतादेः स्नानादिकं परेच्छया स्यादित्याह—आयाचितमिति ॥ ३१ ॥

ब्रह्मविद्वरिष्ठः

स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।

ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३२ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥ ३३ ॥

अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः ।

अभिपूजितलाभैस्को यतिर्मुक्तोऽपि वक्ष्यते ॥ ३४ ॥

कोऽयं ब्रह्मनिष्ठः इत्यत्र—स्वप्नेऽपीति ॥ लामादौ हर्षादिदृष्टेः ब्रह्मनिष्ठता
कुतः इत्यत्र—अलाभे इति । मात्रासङ्गविवर्जितः शब्दादितन्मात्रासङ्गो भूत्वा
प्राणधारणातिरिक्तव्यापृतिर्न भवेदित्यर्थः । भक्तजनप्रेमविषयाणामसङ्गता कुतः
इत्यत्र—अभिपूजितेति । लाभैस्को लाभस्कः लाभवानित्यर्थः ॥ ३२-३४ ॥

यतीनां भोजनादिनियमाः

प्राणयात्रनिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद्गृहान् ॥ ३५ ॥
पाणिपात्रं चरन्योगी नासकृद्वैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठन्मुज्याच्चरन्मुज्यान्मध्ये नाचमनं तथा ॥ ३६ ॥
अब्धीव धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ ३७ ॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ३८ ॥
अनिन्द्यं वै ब्रजन्गोहं निन्द्यं गोहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेषद्वारि गेहे नैवावृते ब्रजेत् ॥ ३९ ॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ४० ॥

परमहंसादीनां माधूकरकरपात्रास्याहारप्रकारमाह—प्राणेति । ग्रामाद्वहिवृक्ष-
मूले स्थित्वा यथोक्तकाले प्राणयात्रानिमित्तभिक्षार्थं ग्रामं प्रविश्य यथाविधि
भिक्षामटेदित्यर्थः ॥ ततः करपात्रनियममाह—पाणिपात्रमिति ॥ कृतार्थानामेवं
नियतिः का इत्यत्र—अब्धीवेति ॥ माधूकरादिवृत्तित्रयेऽपि अनिन्द्यमिति ॥
तद्वसतिमाह—पांसुनेति ॥ ३९-४० ॥

यतेः जितेन्द्रियत्वम्

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।

यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥

निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः ।

कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः ।

न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥

निर्मानश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।

नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥ ४४ ॥

पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।

काले प्राप्ते भवेद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ४५ ॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।

अज्ञातचर्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ।

अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥ ४६ ॥

मनुष्यावासपुरप्राप्तात् निष्क्रम्य । प्रारब्धक्षयकालकाङ्क्षी ॥ प्राणिमात्र-
मात्मधियाहिंसन् । किं च स्वान्यत्र—निर्मानश्चेति । ब्रह्मभूयसे ब्रह्मभावाय
समर्थ्यत इत्यर्थः ॥ ४१-४६ ॥

यतेः सर्वकर्मपरित्यागः

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।

लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ४७ ॥

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
 अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ ४८ ॥
 न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
 न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्कचित् ॥ ४९ ॥
 अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत् ।
 कविर्मूकवदात्मानं तदृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ ५० ॥
 न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
 आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ ५१ ॥
 एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
 आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥ ५२ ॥
 बुधो बालकवत्क्रीडः कुशलो जडवच्चरेत् ।
 वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्या नैगमश्चरेत् ॥ ५३ ॥
 क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा ।
 ताडितः संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः ॥ ५४ ॥
 विष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
 श्रेयस्क्रामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥
 संमाननं परां हानिं योगद्धेः कुरुते यतः ।
 जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥ ५६ ॥
 तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
 जना यथावमन्येरन्गाच्छेयुर्नैव संगतिम् ॥ ५७ ॥

जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः ।

युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥ ५८ ॥

कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये ।

तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राड् भयवर्जितः ॥ ५९ ॥

तेनापि लोकसंग्रहार्थं कर्म कर्तव्यमित्यत आह—आशीरिति । परैर्वापि न कारयेत् ॥ यदि श्रेयोऽर्थी मुनिस्तदा नासच्छास्त्रेष्विविति । स्वयं अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान् वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ स्वयंशोनिमित्तं न शिष्याननुबन्धीत । अनात्मशास्त्रोद्देशेन न व्याख्यामुपयुञ्जीत । नारम्भानारमेत् क्वचित् निस्संकल्पो भवेदित्यर्थः ॥ सर्वज्ञोऽपि कविः ॥ मुनिः ससहायः संचरेदित्यत आह—एक इति ॥ ब्रह्मातिरिक्तयोर्थात्मात्म्यं बुधो बालकवत्क्रीडः सर्वार्थकुशलो जडवच्चरेत् वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् निगमार्थतत्त्वज्ञोऽपि गोचर्या इदमस्तु इदं मास्त्विति न प्रकटयन्तीं नैगमश्चरेत् ॥ कालकर्मयोगतः परैः क्षिप्त इति । ब्रह्मयाथात्म्यानुसंधानयोगेन ऋद्धिस्तन्मात्रस्थितिः तस्य सोऽयं योगर्द्धिस्तस्य सन्मानं परां हानिं वा यः कुरुते स स्वकृत्यानुरूपं फलमनुभवति यत एवमतः परकृतपूजनताडनादिसहनात् योगी योगफलमर्हतीत्याह—जनेनेति । यथा सहनात् योगसिद्धिः तथा चरेत् । स्वयं स्वधर्मानुष्ठानं सद्धर्मदूषणमित्यर्थः । सन्तः जनाः इति ॥ स्वयमसाध्ववमतोऽपि प्राणी सामान्यद्रोही न भवेदित्याह—जरायुजेति ॥ किंच प्राणिसामान्यविषये कामक्रोधाविति ॥ ४७—५९ ॥

यतेः असाधारणधर्माः

भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।

सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥ ६० ॥

काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ।

ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा ।

भैक्षेण वर्तते नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित् ॥ ६१ ॥

चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावन्नित्यं चरेत्सुधीः ।

तत्र प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित् ॥ ६२ ॥

बहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्नि जनार्दनम् ।

सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ॥ ६३ ॥

समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयन् ।

निर्वैरेण समं पश्यन्निद्वजगोऽश्वमृगादिषु ॥ ६४ ॥

भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।

चिन्तयन्परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ॥ ६५ ॥

ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो

भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः

स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवति इत्युपनिषत् ॥ ६६ ॥

यतेरसाधारणधर्मस्तु—भैक्षाशनमित्यादि ॥ यावच्चित्तशुद्धिस्तावद्ब्रत्यादि-
स्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानपूर्वकं वेदान्तश्रवणादि कृत्वा ततः संन्यस्य सर्वत्र चरन्
एकत्र तिष्ठन् वा ब्रह्मानुसंधानं कुर्यादित्याह—चित्तेति ॥ एकत्र स्थिरासनो भूत्वा
भावयन्निति । स्मरन् कालं नयेदित्यर्थः ॥ एतावता ग्रन्थेन योऽर्थोऽभिहितः
तज्ज्ञानतः अवधूतो भूत्वा स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममुक्तो भवतीत्याह—ज्ञात्वेति ।
ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा पराङ्मनो येन दण्डयते तत्प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानं
मनोदण्डमित्युक्तम् । तज्ज्ञानस्य मनःप्रविलापनाधिकरणगोचरत्वात् स्वातिरेकेणा-
भासतोऽपि किंचिदस्तीति मिथ्याशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरोऽवधूतो भूत्वा ।
स्वातिरिक्तप्रपञ्चावाङ्मुखः प्रपञ्चोऽस्ति नास्तीति विभ्रमविरलो भूत्वा स्वरूपानु-
संधानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीति । “कीटको भ्रमरं ध्यायन्
भ्रमरत्वाय कल्पते” इति भगवत्पादोक्त्यनुरोधेन सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रति-

योगिकस्वमात्रमिति प्रबोधसमकालं स्वातिरिक्तभ्रममुक्तो भवतीत्यर्थः । इत्युप-
निषच्छब्दः पञ्चमोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ ६०—६६ ॥

इति पञ्चमोपदेशः

मोक्षप्राप्त्युपायजिज्ञासा

अथ नारदः पितामहमुवाच । भगवन् तदभ्यासाद्भ्रमरकीट-
न्यायवत् । तदभ्यासः कथमिति । तमाह पितामहः । सत्यवाग्ज्ञान-
वैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥ १ ॥

स्वरूपानुसंधानतो मुक्तो भवतीत्युक्तम् । तदुपायबुभुत्सया पितामहं नारदः
पृच्छतीत्याह—अथेति । नारदेनैवं पृष्टो भगवान् तत्प्रश्नमङ्गीकृत्य प्रतिवचनमा-
चष्टे—तमाह पितामह इति । सर्वावस्थास्वपि सर्वप्राणिप्रियहितसत्यवाग्ज्ञान-
वैराग्याभ्याम् ॥ १ ॥

विद्वद्देशरीरवर्णनादिकम्

ज्ञानं शरीरं, वैराग्यं जीवनं विद्धि, शान्तिदान्ती नेत्रे, मनो
मुखम्, बुद्धिः कला, पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि, अवस्था पञ्चमहा-
भूतानि, कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाः,
चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीत्येवमपि नावमपि पङ्कं कर्णधार
इव, यन्तेव गजम्, स्वबुद्ध्या स्ववशीकृत्य, अस्मद्व्यतिरिक्तं सर्वं
कृतकं नश्वरमिति मत्वा, विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति
व्याहरेन्नान्यर्तिकचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण जीवन्मुक्तो भूत्वा

वसेत्कृतकृत्यो भवति । न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत्किंतु ब्रह्माह-
मस्मीत्यजस्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तुरीयावस्थां प्राप्य तुर्यातीतत्वं
ब्रजेत् ॥ २ ॥

विद्वद्देहः कीदृशः इत्याकाङ्क्षायां तच्छरीरं वर्णयति — ज्ञानमिति । अपर-
ब्रह्मज्ञानं शरीरं तदतिरेकेणाब्रह्मप्रपञ्चे वैराग्यं जीवनं प्राणस्वरूपं विद्धि
शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं मनस्तत्त्वं प्रत्यक्चैतन्यं मुखमित्यर्थः । बुद्धिः
कला प्राणादिनामान्तषोडशकलाधीरेव कलानां बुद्धिविकल्पितत्वात् वाक्श्रोत्र-
कर्मज्ञानाक्षदशकं शब्दादिपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं अन्तःकरणचतुष्टयमव्यक्तं चेति
पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि समष्टिजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिपुरीयातीतानां अवस्था
पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा शाखास्थानीयबाहवः ।
पुनः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिपुरीयाश्चतुर्दशकरणानि । कर्मज्ञानाक्षदशकमन्तःकरण-
चतुष्टयं चेति चतुर्दशकरणानि अदृढपङ्कस्तम्भाकाराणीति एवमपि एवं
स्थितेऽपि नावमपि पङ्क पङ्कं स्पृष्टनावमपि । कर्णधार इव यथा कर्णधारो
नौकाचालकः सत्पथं नयति । स्वव्यतिरेकेण न किञ्चिदस्ति स्वयमेव ब्रह्म
इत्यपरोक्षज्ञानात् जीवन्मुक्तो भूत्वा वसेत् कृतकृत्यो भवति । व्यवहारदशायामपि
न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत् किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं भावयेदित्यर्थः । ततः किं
इत्यत्र स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्विति । अहं ब्रह्मास्मीति सदानुसन्धाता
जाग्रदाद्यवस्थात्रये सत्यसति जीवन्मुक्तिनिर्वर्त्यतुरीयावस्थामेत्य ततस्तुर्यातीतत्वं
विदेहमुक्तत्वं भजेदित्यर्थः ॥ २ ॥

तुर्यातीतत्वप्राप्त्युपायः

दिवं जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमिति । एकावस्थायां
चतस्रोऽवस्थाः । एकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापाराश्च-
क्षुरादीनाम् । चक्षुषो रूपग्रहणम्, श्रोत्रयोः शब्दग्रहणम्, जिह्वाया

रसास्वादनम्, घ्राणस्य गन्धग्रहणम्, वचसो वाग्व्यापारः, पाणोरादानम्, पादयोः संचारः, पायोरुत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दग्रहणम्, त्वचः स्पर्शग्रहणम् । तदधीना च विषयग्रहणा बुद्धिः । बुद्ध्या बुध्यति । चित्तेन चेतयति । अहंकारेणाहंकरोति । विसृज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति । गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः संचरति । प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिः ईशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्तुं ज्ञात्वा ॥ ३ ॥

तुरीयातीतं किम्, तदास्त्युपायः कः, इत्यत आह—दिवमित्यादि । तुर्यातीते ब्रह्मणि स्वाज्ञैर्गुणसाम्यात्मिका तुर्यावस्था विकल्पिता तत्र तुर्यातीतमेव तदसङ्ग-तुर्यवत् भासते तत्र तुरीये दिवान्तं विकल्पितम् । तत्र दिवं दिवा जाग्रत् स्वप्नं स्वप्नः नक्तं अर्धरात्रमेव सुषुप्तभावंगतं इत्येवमवस्थात्रयं निष्पन्नम् । तत्रैकैकावस्थायां चतस्रोऽवस्थाः पश्चात् प्रतिपाद्यन्ते । तदनुरोधेन मन आद्यैकैकरणाधीनानां वागादिचतुर्दशकरणानां चक्षुरादीनां व्यापारा उच्यन्ते । चक्षुषो रूपग्रहणं इत्याद्यहंकारेणाहंकरोतीत्यन्तम् । एतान् जीवो विसृज्य विशेषेण सृष्ट्वा तत्संघातदेहाभिमानेन तुर्यचैतन्यमेव जीवभावमापन्नवत् भवति । शरीरे तदवच्छिन्नाष्टदलाञ्छितहृदयकमले तत्रत्यदलेषु प्रागादिक्रमेण गृहाभिमानेन गृहस्थ इव जीवः संचरति । तत्र प्रागाद्यष्टदलेषु पुण्यादिवृत्तिविशिष्टो भूत्वा ईशान्यदलं प्रविशतो वस्तुज्ञानं कर्णिकासंचारतः स्वातिरिक्तप्रपञ्चवैराग्यमेत्य तत्केसरसंचारतः अनात्मापहवसिद्ध आत्मा स्वमात्रमिति चिन्तोदेति । इत्येवं वक्त्रं चैतन्यवक्त्रं स्वरूपं ज्ञात्वा विद्वान् ज्ञानसमकालं तुर्यातीतब्रह्ममात्रमवशिष्यते ॥ ३ ॥

तुर्यातीतस्वरूपम्

जीवदवस्था प्रथमं जाग्रद्द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं
तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम् । विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक
एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत् । नो
चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः
सुषुप्ते सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्थाः ।
न त्वेवं तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य । स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञे-
श्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते । उत तटस्थो द्रष्टा ।
तटस्थो न द्रष्टा । द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव । कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः
स्पृष्टो जीवः । जीवेतरो न स्पृष्टः । जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न ।
जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः, शरीराभिमानेन जीवत्वम् । जीवत्वं
घटाकाशमहाकाशवद्यवधानोऽस्ति । व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति
मन्त्रेणोच्छ्वासनिःश्वासव्यपदेशेनानुसंधानं करोति । एवं विज्ञाय शरी-
राभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४ ॥

कथं पुनस्तुर्यातीतस्वरूपं इत्यत आह—जीवदवस्थेति । जीवदवस्थासु
जीवाधिष्ठितावस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था जाग्रत् द्वितीयं स्वप्नावस्था तृतीयं
सुषुप्त्यवस्था चतुर्थं तुर्यावस्था भवति । यज्जाग्रदादिचतुरवस्थाविरहितं तु
तुर्यातीतं तत्तुर्यातीतसिद्धेः जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयापह्नवपूर्वकत्वात् स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे
सत्यसति तुर्यातीतं निष्प्रतियोगिकस्यमात्रमवशिष्यत इत्यर्थः । एकस्यैवात्मनो
जाग्रदाद्यवस्थायोगात् विश्वादिभेदविशिष्टो भवति न स्वतः स्वतस्त्वेक एव
तज्ज्ञानात्तद्भावापत्तिः स्यादित्याह—विश्वेति । जाग्रदाद्यवस्थायोगप्रभवविश्वतैजस-
प्राज्ञतटस्थभेदैः व्यवहृत आत्मा एक एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च

एक एव स्वप्रकाशचिद्वातुः देवः स्वसाक्ष्यगुणत्रयसद्भावे साक्षी तदभावे निर्गुणः । चशब्दो निष्प्रतियोगिकनिर्गुणत्वख्यापनार्थः । यदेवं निष्प्रतियोगिकनिर्गुणं तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत् । तत् स्वमात्रमित्यनुसंधानं कुर्यात् । ततस्तद्भावापत्तिः स्यादित्यर्थः । पक्षान्तरमाह—नोचेदिति । जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयकलनाविरलं तुर्यातीतमिति मन्तव्यम् । नोचेत् यत्रावस्थाचतुष्टयप्रविभक्तजाग्रज्जाग्रदादितुर्यस्वापान्तपञ्चदशविभागकलना न विद्यते तदेव तुर्यतुर्यांशविभातं तुर्यतुर्यं तुर्यातीतं ब्रह्म नेतरत् । तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यस्य विभागकलनावैरल्यात् तस्यैव स्थूलादियोगतो विश्वादित्वं सर्वसाक्षित्वं सर्वकलनास्पृष्टत्वं चाह—स्थूलेति । साक्षी द्रष्टा । उत यद्वा तदस्थ ईश्वरः इति चेत् तदस्थो न द्रष्टा साक्षी भवितुमर्हति । तदस्थस्य बीजोपाधिकेश्वरतया दृष्टत्वात् । अतोऽयं न द्रष्टैव तयाऽप्ययं कर्तृत्वाद्यभिमतविरल इत्यर्थः । नोचेत् जीव एव द्रष्टा भवितुमर्हति इत्यत आह—कर्तृत्वेति । कर्तृत्वादिकलनया स्पृष्टो जीवः । साक्षी तु तदस्पृष्टः तस्य सर्वत्र आत्मात्मीयाभिमतवैरल्यात् तयोर्महदस्यन्तरं इत्याह—जीवत्वमिति । घटाकाशमहाकाशवद्भ्यवधानोऽस्तीति । जीवसाक्षिणोरित्यर्थः । जीवो जीवाभि-
मतिमुत्सृज्य सर्वसाक्ष्यस्मीति ज्ञानात् ब्रह्मैव भवतीत्याह—व्यवधानेति । जीवसाक्षिणोर्व्यवधानवशात् जीवः उच्छ्वासनिःश्वासच्छलेन योऽहं स्वाज्ञदशायां जीवभावं गतः स्वज्ञानेन स्वाज्ञानापाये सोऽहं सर्वसाक्षी स्यां वस्तुतस्तु परमार्थदृष्ट्या जीवत्वसाक्षित्वादिकलनाविरलं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमित्यनु-
संधानं करोति तदायं तन्मात्रेणावशिष्यते इत्येवं जीवो ज्ञात्वा ब्रह्मैव भवतीत्याह—एवमिति । यावद्देहादावात्मात्मीयाभिमतिस्तावज्जीवत्वं यदायं देहादावात्मात्मीयाभिमतिं निःशेषं त्यजति तदा स एव ब्रह्मेत्यत्र न विवाद इत्यर्थः ॥ ४ ॥

असच्चर्यात्यागः सच्चर्यानुष्ठानं च

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।

पिषाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥ ५ ॥

शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च ।
 नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥ ६ ॥
 आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च ।
 महाजनेषु सिद्धचर्यां न गच्छेद्योगवित्कचित् ॥ ७ ॥
 यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
 तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥ ८ ॥
 वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
 यत्स्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ९ ॥
 विधूमे च प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधूकरं चरेत् ।
 गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥ १० ॥
 दण्डभिक्षां च यः कुर्यात्स्वधर्मे व्यसनं विना ।
 यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥ ११ ॥
 यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद्भिक्षां च वासनात् ।
 तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥ १२ ॥
 यः शरीरिन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
 पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥ १३ ॥
 परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
 वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥ १४ ॥
 नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
 इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ १५ ॥

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।

स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ १६ ॥

योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।

सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥ १७ ॥

तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद ।

आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना ॥ १८ ॥

न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।

ब्रह्मविज्ञानिनामस्ति तथा वान्यच्च नारदः ॥ १९ ॥

जीवन्मुक्तयतीनामसच्चर्यात्यागापूर्वकं सच्चर्यासर्वस्वमनुक्रामति—त्यक्तेत्यादिना ।
पिधाय बुद्ध्या द्वाराणि विषयोपलब्धिद्वाराणि धिया पिधाय ब्रह्मध्याने मनो
निवेशयेत् इत्यर्थः ॥ ध्यानस्थलं निगमयति—शून्येष्विविति ॥ तस्यागम्यप्रदेश-
माह—आतिथ्येति ॥ तस्य त्रिदण्डमाह—वागिति । मौनानशनप्राणायामैः
वाग्दण्ड इत्यादि । यतोर्भिक्षाविधिं तद्विपर्यये बाधकमुच्यते—विधूम इति ॥
मुख्यगौणावधूतलक्षणमाह—य इति । स्वयंप्रभं स्वयंप्रकाशचिद्धातुम् ॥१९-१९॥

विविदिषोः श्रवणादिविधिः

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि ।

घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादिकेष्वपि ॥ २० ॥

श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।

उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥ २१ ॥

सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः ।

सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥ २२ ॥

निर्ममो निरहंकारः सर्वसङ्गविवर्जितः ।
 सदा शान्त्यादिशुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥ २३ ॥
 संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा ।
 विरक्तस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशयः ॥ २४ ॥
 मुमुक्षुः परहंसाख्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
 अभ्यसेद्ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥ २५ ॥
 ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः ।
 शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥ २६ ॥
 वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
 निर्मयो निर्ममो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥
 जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽथवा भवेत् ।
 प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥ २८ ॥
 मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ।
 एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥ २९ ॥
 गुरुणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत् ।
 नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥ ३० ॥
 प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
 अविरोधेन धर्मस्य संचरेत्पृथिवीमिमाम् ॥ ३१ ॥
 ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
 आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥

अनुज्ञाप्य गुरुंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम् ।
 त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥
 द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
 निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ३४ ॥
 माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
 तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३५ ॥
 संभाषणं सह स्त्रीभिरालापप्रेषणं तथा ।
 नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥
 न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
 नाशिकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥ ३७ ॥
 नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च ।
 धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिलौकिकी क्रिया ॥ ३८ ॥
 संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।
 कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगीन् वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥
 न नाशयेद्बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः ।
 नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥ ४० ॥
 अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद ।
 नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥ ४१ ॥
 निःस्तुतिर्निर्ममस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
 चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ४२ ॥
 इत्युपनिषत् ॥

विविदिषोः श्रवणविधिमाह—विरज्येति । सार्वभौमाद्याविरिञ्चित्वप्रद-
कर्मफलात् सर्वभूतेभ्यो निर्वर्त्य प्रयोजनादपि विरज्य विरतिमेत्य संन्यसेदित्यर्थः ।
“संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्” इति स्मृतेः । स्वाभिमतगुरुनिकटे संशयादिपञ्चदोष-
निवृत्त्यन्तं समाहितकरणप्राप्तौ भूत्वा सर्ववेदान्तश्रवणमेव कुर्यादित्यर्थः ।
“आवृत्तिरसकृदुपदेशात्” इति वैयासिकसूत्रानुरोधेन ॥

“अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्दृढी भवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥”

इति भगवत्पादाचार्योक्तेः । ततः किं इत्यत्र—दारादिस्वदेहान्तकलनासु निर्मम
इति ॥ यतः श्रवणादिजन्यज्ञानं कैवल्यप्रापकं अत एव श्रवणादिप्रतिबन्धकार्यं
संन्यस्य शान्त्यादिसहितो भूत्वा ज्ञानफलसिद्धिपर्यन्तं श्रवणमेव कुर्यादित्याह—
संसारेति । कुटीचकाद्याश्रमत्रयमुत्सृज्य । परमाश्रमं परमहंसाश्रममित्यर्थः ॥
ततः अनुज्ञाप्येति ॥ कीदृशो भूत्वेत्यत्र—त्यक्तसङ्ग इति ॥ निस्संकल्प-
संकल्पाभ्यां गृही भिक्षुः हीयेत इत्याह—द्वाविति । यदि श्रेयोऽर्थी भिक्षुः
तदासुरातोऽपि विभ्रमकरस्त्रीसल्लापादिविमुखो भवेदित्याह—माद्यतीति । यस्मादेवं
तस्मात् ॥ परमार्थदृष्टेः स्नानजपादिकर्तव्यता नास्तीत्याह—नेति ॥ लोकसंग्रहार्थं
कर्म कर्तव्यमित्याह—संयजेदिति ॥ चरस्थिरहिंसां न कुर्यादित्याह—कृमीति ॥
चलं शून्यागारादिक्षयिष्णुत्वात् अचलं पर्वतादिः तस्य स्थिरत्वात् यादृच्छिको
भवेत् यदृच्छालाभसंतुष्टो भवेत् नहि यथेच्छाचरणं भवितुमर्हति प्रवृत्तिनिवृत्ति-
संकल्पासंभवात् । इत्युपनिषच्छब्दः षष्ठोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ २०-४२ ॥

इति षष्ठोपदेशः

यतिनियमाः

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्ठं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य ।

विरक्तः सन् यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेन्नैकत्र निवसे-

द्विधुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमनविरोधग्रहणं न कुर्यात्,
 हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यात्, न वृक्षारोहणमपि, न देवोत्सवदर्शनं
 कुर्यात् । नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात् । स्वव्यतिरिक्तं सर्वं
 त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्, कृशो भूत्वा, मेदोवृद्धिमकुर्वन्,
 आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्र । अन्नं पल्लमिव, गन्धलेपन-
 मशुद्धलेपनमिव, क्षारमन्त्यजमिव, वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिव, अभ्यङ्गं
 स्त्रीसङ्गमिव, मित्राह्लादकं भूत्रमिव, स्पृहा गोमांसमिव, ज्ञात-
 चरदेशं चण्डालवाटिकामिव, स्त्रियमहिमिव, सुवर्णं कालकूटमिव,
 सभास्थलं श्मशानस्थलमिव, राजधानीं कुम्भीपाकमिव, शवपिण्ड-
 वदेकत्रान्नम् । देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य, स्वदेशमुत्सृज्य,
 ज्ञातचरदेशं विहाय, विस्मृतपदार्थपुनःप्राप्तिर्हर्ष इव स्वमानन्दम-
 नुस्सरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा, स्वशरीरं शवमिव हेयमुप-
 गम्य, कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्रासबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो
 वसेत् । अयत्नेन प्राप्तमाहरन्, ब्रह्मप्रणवध्यानानुसंधानपरो भूत्वा,
 सर्वकर्मविनिर्मुक्तकः, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा,
 त्रिगुणातीतः, षडूर्मिरहितः, षड्भावविकारशून्यः, सत्यवाक्,
 शुचिः, अद्रोही, ग्रामैकरात्रम्, पत्तने पञ्चरात्रम्, क्षेत्रे पञ्चरात्रम्,
 तीर्थे पञ्चरात्रम्, अनिकेतः स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्दरेषु
 वसेदेक एव वा द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभिः नगरं ^१ चतुर्भिर्नगरमित्येकः
 चरेद्भिक्षुः चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यात् । अविच्छिन्न-

^१ उ. उ १. 'चतुः ग्रामम्' ।

ज्ञानाद्वैराग्यसंपत्तिमनुभूय, मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त
इत्यात्मन्यालोच्य, सर्वतः स्वरूपमेव पश्यन्जीवन्मुक्तिमवाप्स्य,
प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा, देहपतनपर्यन्तं
स्वरूपानुसंधानेन वसेत् ॥ १ ॥

कुटीचकादिचर्या बहुधा श्रुतापि पुनर्विशेषबुभुक्षुत्सया नारदेन पृष्ठः पितामहः
प्रसक्तानुप्रसक्त्या पुरोक्तमनुक्तं च सर्वमुपदिष्टवानित्याह—अथेति । नारदं
पितामहः पुरस्कृत्य सर्वं कथयामास । किं तत् इत्यत्र विरक्त इति । यदि
कृतश्रवणादिसाधनस्तदनधिकारी वा अष्टौ मास्येकाकी ग्रामैकात्रं इत्युत्तरीत्या
संचरेच्चातुर्मास्ये तु एकत्र निवसेत् भिक्षुः भयात् प्राणिबाधा स्यादिति भिया
वर्षास्वेकत्र निवसेत् इत्यर्थः । चातुर्मास्यानन्तरं सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत् कदापि
स्वगमनविरोधग्रहणं अत्रैव कतिचिदहानि वसत्विति प्रार्थनाङ्गीकारं न कुर्यात् ।
यदि दृढाङ्गः गन्धलेपनमिति । ब्रह्मातिरिक्तधिया न देहान्तरदर्शनमिति ।
यत्र स्वशरीराभिमानिनो वर्तन्ते तत्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणम् । षोडशमात्रा-
प्रणवतदर्थतुर्यतुर्यस्वमात्रमित्यनुसंधानं कृत्वा स्वातिरिक्तसर्वकर्मनिर्मुक्तकः । यत्र
कुत्राप्यनिकेतः । संचारकाले एक एव चरेत् । चातुर्मास्यादिप्रसक्तौ ग्रामं द्वौ
वा चरेत् त्रिभिः चतुर्भिर्वा नगरं चरेत् विश्वरूपयात्राच्छलेन यतिरेक एव
चरेदित्यर्थः । भिक्षुः वागादिचतुर्दशकरणानां स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममुत्सृज्य ।
सर्वत इति । विश्वविराडोत्रादिद्वितुर्याविकल्पान्तं तद्गतहेयांशापायसिद्धमोत्रादिभेदेन
चतुर्विधमिति ॥ १ ॥

कुटीचकादीनां ज्ञानादिनियमेषु विशेषः

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य, बहुदकस्य द्विवारम्, हंसस्यै-
कवारम्, परमहंसस्य मानसस्नानम्, तुर्यातीतस्य भस्मस्नानम्,
अवधूतस्य वायव्यस्नानम् ॥ २ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य, त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य, ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं
हंसस्य, भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य, तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रम्,
अवधूतस्य न किञ्चित् तुरीयातीतावधूतयोः ॥ ३ ॥

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य, ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य, न क्षौरं
हंसस्य, परमहंसस्य न च^१ क्षौरम्, अस्ति चेदयनक्षौरं, तुरीया-
तीतावधूतयोर्न क्षौरम् ॥ ४ ॥

कुटीचकस्यैकान्नम्, माधूकरं बहूदकस्य, हंसपरमहंसयोः
करपात्रम्, तुरीयातीतस्य गोमुखम्, अवधूतस्याजगरवृत्तिः ॥ ५ ॥

शाटीद्वयं कुटीचकस्य, बहूदकस्यैकशाटी, हंसस्य खण्डम्,
दिगम्बरं परमहंसस्यैककौपीनं वा, तुरीयातीतावधूतयोर्जाति-
रूपधरत्वम् । हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम् ॥ ६ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनम्, हंसपरमहंसयोर्मनिसार्चनम्,
तुरीयातीतावधूतयोः सोऽहंभावना ॥ ७ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारः, हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधि-
कारः, तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्म-
हावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि । कुटीचकबहूदकहंसानां
नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥ ८ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः, हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः,
तुर्यातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥ ९ ॥

^१ उ१. च न.

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणम् , हंसपरमहंसयोर्मननम् ,
तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः । सर्वेषामात्मानुसंधानं विधिरिति ॥ १० ॥

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरन्नीवन्मुक्तो
वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिः इत्युपनिषत् ॥ ११ ॥

कुटीचकादेः स्नानपुण्ड्रक्षौराशनवस्नदेवार्चनमन्त्रप्रणवादिवैचित्र्यमाह —
त्रिषवणमित्यादि । यद्वा तुरीयातीतावधूतयोः न किञ्चित् पुण्ड्रमस्ति, तयोः
परेच्छाचरणत्वात् । परमहंसस्य न च क्षौरम् । वक्ष्यमाणसमष्टिबाह्यप्रणवस्य
चतुर्मात्रतया मानुषप्रणवत्वात् हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः वक्ष्यमाणाष्ट-
मात्रात्मकोऽन्तःप्रणव इत्यर्थः । तुरीयातीतावधूतयोः ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्म-
कतया तुर्यतुर्यगोचरत्वात् । संसारतारकं ब्रह्मप्रणवाभिधानं तारकमनुस्मरन् ।
कुटीचकादिस्वधर्मानुष्ठानपूर्वकं मोक्षोपायमन्विष्येन्न हि तैः परमहंसादिधर्मोऽनुष्ठेयः
इत्यत्र स्मृतिः—“श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्” इति ।
इत्युपनिषच्छब्दः सप्तमोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ २-११ ॥

इति सप्तमोपदेशः

तारकरूपजिज्ञासा.

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ । संसारतारकं
प्रपन्नो ब्रूहीति । तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे । ओमिति ब्रह्मेति
व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण । का व्यष्टिः का समष्टिः । संहारप्रणवः सृष्टि-
प्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधः । ब्रह्मप्रणवोऽन्तःप्रणवो

व्यावहारिकप्रणवः । बाह्यप्रणव आर्षप्रणव उभयात्मको विराट्प्रणवः ।

संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥ १ ॥

एवं पितामहात् परमिममुपदेशं लब्ध्वा अथ तारकयाथात्म्यबुभुत्सया नारदेन यत् पृष्ठं तदङ्गीकृत्य परमेष्ठी प्रश्नोत्तरमाहेत्याह—अथेति । परमेष्ठी वक्तुमुपपक्रमे । किं तत् ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिर्भावंगतप्रणवावयवाकार-स्थूलांशादिप्रकारेण सह तद्व्यष्ट्याद्यध्यक्षविश्वविधाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तकलना-लम्बनं ओं इत्येकाक्षरं ब्रह्मप्रणवार्थं ब्रह्मेति विद्महीति शेषः । तत्र का व्यष्टिः, का समष्टिः इत्यत्र व्यष्टिसमष्ट्यात्मको हि ब्रह्मप्रणवः स्वाज्ञदृष्ट्या त्रिधा भिद्यते । तत् कथं इत्यत्र संसारसृष्ट्यन्तर्बाह्यादिभेदात् । कोऽयं सृष्टिप्रणवादिः इत्यत्र अर्धमात्राकारोकारोपसर्जनमकारमात्राप्रधानोऽयं संहारप्रणवः रुद्राधिष्ठितो ब्रह्म-विष्णुरुद्राधिष्ठितो वा भवतीत्यत्र—

“ त्रिमात्राकलनोपेतसंहारप्रणवासनाः ।

ब्रह्मविष्णुवीश्वरा विश्वसर्गस्थित्यन्तहेतवः ।

भवेयुर्यत एवायं संहारप्रणवो भवेत् ॥ ”

इति संहारप्रणवोक्तेः । उकाराद्युपसर्जनाकारप्रधानोऽयं सृष्टिप्रणवः । तदधिष्ठाता चतुरानन इत्यत्र—

“ एकमात्रात्मकं तारमुपादाय चतुर्मुखः ।

यतः ससर्ज सकलं सृष्टितार अतो भवेत् ॥ ”

इति सृष्टिप्रणवोक्तेः । अन्तर्बाह्यप्रणवस्वरूपं पश्चाद्विवक्ष्यते । संहारसृष्टि-प्रणवाभ्यां सहान्तर्बाह्योभयात्मकत्वात् ब्रह्मप्रणवस्य त्रैविध्यमुपपद्यते । तत् कथं मात्रात्रयप्रधानोऽयं संहारप्रणवः, एकमात्राप्रधानोऽयं सृष्टिप्रणवः, अष्टमात्रात्म-कोऽन्तःप्रणवः, चतुर्मात्रात्मको बाह्यप्रणवश्च मिलित्वा षोडशमात्रात्मको ब्रह्म-प्रणवो भवतीत्यर्थः । एतावानेव ब्रह्मप्रणवविभागः नातः परमस्तीत्याकांक्षायां स्वाज्ञदृष्टौ सत्यां अनेकधा भिद्यत इत्यत्र को विवादः इत्याह—अन्तरिति । एक

एव ब्रह्मप्रणवो बहुधा भिद्यत इत्यत्र—पञ्चाशद्वर्णगर्भिताकारमात्राप्रधानोऽयं व्यावहारिकप्रणवः “अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पशोऽम्भिः व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति” इति श्रुतेः । दुर्गादिपञ्चब्रह्मान्ताधिष्ठितो वैखरीप्रपञ्चकलनाहेतुर्व्यावहारिकप्रणव उच्यते इत्यत्र—

“एकमात्रात्मकस्तारः पञ्चाशद्वर्णभूषितः ।
वैखरीकलनाहेतुर्व्यावहारिक ईरितः ॥
दुर्गादिशक्तित्रितयं तमेच्छादित्रिशक्तिकम् ।
वस्वादित्यरुद्रजातं नवब्रह्माधिदैवतम् ।
तथा पञ्चब्रह्मदैवं तद्वाच्यार्थ इतीरितः ॥”

इति व्यावहारिकप्रणवोक्तेः । समष्टिबाह्यो व्यष्टिप्रणवश्चतुर्मात्रात्मको बाह्यप्रणव उच्यते । स विश्वाधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“व्यष्टेः समष्टिबाह्यत्वात्तूलातुर्यांशयोगतः ।
बाह्यप्रणव आम्नातो विश्वाद्या वाच्यतां गताः ॥”

इति बाह्यप्रणवोक्तेः । अकारोकारमकारविन्दुनादकलाकलातीतत्वेन ऋषिमण्डलोपास्योऽयं आर्षप्रणवः । स पञ्चब्रह्मविराडन्तर्यामिभिरधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“सप्तमात्रात्मकः पञ्चब्रह्मान्तर्याम्यधिष्ठितः ।
ऋषिमण्डलसेव्यत्वादार्षप्रणव उच्यते ॥”

इत्यार्षप्रणवोक्तेः । अकारोकारोभयात्मकस्थितिप्रणवो ब्रह्मविष्णवधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“यतो विष्णुर्द्विमात्राद्व्यतारोपादानतोऽन्वहम् ।
ररक्ष विश्वमखिलं स्थितितार अतो भवेत् ॥”

इति स्थितिप्रणवोक्तेः । समष्ट्यकारादिमात्राचतुष्टयात्मको विराट्प्रणवः विराडादिभिरधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“चतुस्समष्टिमात्रायुग्विराट्प्रणव उच्यते ।
विराडादिर्भवेद्वाच्यं तल्लक्ष्यं परमाक्षरम् ॥”

इति विराट्प्रणवोक्तेः । पूर्वस्मिन् पर्याये संहारप्रणवो व्याख्यातः । ब्रह्मप्रणवस्तु पञ्चाद्विवक्ष्यते । स्थूलादिमात्राचतुष्टयात्मकोऽर्धमात्राप्रणवः ओत्रनुज्ञात्रनुज्ञैकरसाविकल्पाधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“ओंकार एव चतूरूपो ह्ययमोंकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैरविकल्पो ह्ययमात्मा” ।

इति श्रुतेः ॥ १ ॥

अन्तःप्रणवादीनां स्वस्वकथनम्

ओमिति ब्रह्म ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि । स चाष्टधा भिद्यते । अकारोकारो मंकारअर्धमात्रा नादबिन्दुकला शक्तिश्चेति । तन्न चत्वारः, अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः, शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः । सगुणो विराट्प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः^१ । यथा प्लुतो विराट्प्लुतप्लुतः संहारः ॥ २ ॥

ततः अन्तःप्रणवार्थमाह—ओमिति । ओमिति ब्रह्मेति व्याख्यातम् । अष्टमात्रात्मकोऽन्तःप्रणवः पञ्चब्रह्मविराट्सूत्रेश्वराधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“अकाराद्यष्टमात्रायुगन्तःप्रणव उच्यते ।

पञ्चब्रह्मविराट्सूत्रबीजेडाच्यार्थ उच्यते ॥”

इत्यन्तःप्रणवोक्तेः । केवलं प्रधानतः चतुर्मात्रात्मकोऽयं प्रणव इति यदुक्तं तन्न चत्वारः केवलचतुर्मात्रात्मक एव न भवति किं तु तदवयवाकारादेः व्यष्टिसमष्टितदुभयैक्यजाग्रजाग्रदादितुर्यस्वापान्तारोपापवादाधिकरणविश्वविश्वद्यवि - कल्पानुज्ञैकरसान्तप्रपञ्चानुवृत्त्यानन्तभेदवैशिष्ट्यमाह—अकार इति । अर्धमात्रा-

^१ उ. उ १. उभयात्मको विराट्प्रणवः ।

प्रणवस्य सृष्ट्यादिप्रणववदन्तावयवाभावतो निरवयवत्वादनन्तावयवस्वरूपमुपपद्यते
इत्यर्थः । आरोपापवादाधिकरणयोः सगुणनिर्गुणत्वं वस्तुतः निष्प्रतियोगिक-
निर्गुणत्वं चाह—सगुण इति । सगुणो विराट्प्रणवः सर्वारोपाधिकरण-
ब्रह्मप्रतीकत्वात् संहारो निर्गुणप्रणवः स्वातिरिक्तसर्वापवादाधिकरणब्रह्मालम्ब-
नत्वात् । किं च उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः सगुणनिर्गुणविराट्साक्षियोगतः उभया-
त्मकोऽयं उत्पत्तिप्रणवः सगुणनिर्गुणप्रणवद्वयाधिष्ठितेश्वरस्य स्वाज्ञस्वज्ञदृष्टिभ्यां
सविशेषनिर्विशेषस्वरूपत्वेन स्वातिरिक्तप्रपञ्चोत्पत्त्यादिहेतुत्वात्तद्वाचकस्योत्पत्ति-
प्रणवत्वं युज्यत इत्यर्थः । सप्रतियोगिकनिर्गुणप्रणवं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिकतया
निष्प्रतियोगिकनिर्गुणतदुपायषोडशमात्राप्रपञ्चनपूर्वकब्रह्मप्रणवस्वरूपमाह — यथेति ।
प्लुतप्लुतशब्देन चतुर्थमात्रार्धमात्रोच्यते तदसङ्गचिद्धातुरकारादिमात्रात्रयतदध्यक्ष-
विश्वविराडोत्राद्यपेक्षया यथा निर्गुणः सप्रतियोगिकनिर्गुणरूपेण । विराजत इति
विराट् । व्यष्टिसमष्टितुयैक्योतेत्यर्थः । तथा प्लुतप्लुतः अर्धमात्रार्धमात्रात्मकः स्वयं
षोडशसंख्यापूरकामात्राख्यपरा मात्राभेदेन स्थित्वा स्वातिरिक्तस्थूलाकारादिपञ्च-
दशमात्रातद्व्यष्टिसमष्टितदुभयैक्यतदारोपापवादाधिकरणविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैक-
सान्तप्रविभक्ततमआदिगुणसाम्यान्तविशेषजातं संहरत्युपसंहरत्यपह्वं करोतीति
संहारः ॥ २ ॥

विराट्प्रणवस्य षोडशमात्रात्मकत्वम्

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः । षोडश-
मात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते । अकारः प्रथमः, ह्युकारो द्वितीयः,
मकारस्तृतीयः, अर्धमात्रः चतुर्थः, बिन्दुः पञ्चमी, नादः षष्ठी,
कला सप्तमी, कलातीताष्टमी, शान्तिर्नवमी, शान्त्यतीता दशमी,
उन्मन्येकादशी, मनोन्मनी द्वादशी, पुरी त्रयोदशी, मध्यमा
चतुर्दशी, पश्यन्ती पञ्चदशी, परा षोडशी । पुनश्चतुःषष्टिमात्रः

प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरशतभेदमात्रास्वरूपमासाद्य स-
गुणनिर्गुणत्वमुपैत्येकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥ ३ ॥

स्वातिरिक्ताकारस्थूलार्धशप्रभवजाप्रजाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनापह्वसिद्ध -
निष्प्रतियोगिकनिर्गुणतुर्यतुर्यरूपेण विराजत इति विराट् । स यत्रोपलभ्यते
सोऽयं विराट्प्रणवो ब्रह्मप्रणव इत्यर्थः । कथं पुनस्तस्य विराट्प्रणवस्य
ब्रह्मप्रणवत्वम् षोडशमात्रात्मकत्वात् । काः ताः मात्राः इत्यत आह—षोडश-
मात्रात्मक इति । वराहोपनिषदुक्तज्ञानकर्मप्राणशब्दादिपञ्चकान्तःकरणचतुष्टय-
पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतपञ्चकपञ्चतन्मात्रमहत्तत्त्वाव्यक्ताख्यानि षट्त्रिंशत्तत्त्वान्यतीत्या-
पह्वीकृत्य निष्प्रतियोगिकतया वर्तते अवशिष्यत इति षट्त्रिंशत्तत्त्वातीत इत्यर्थः ।
शिष्टमुक्तार्थम् । षोडशमात्रास्वरूपं विशदीकरोति—अकार इति । षोडश-
मात्रात्मको ब्रह्मप्रणवः तत्र पञ्चदशमात्रातदध्यक्षविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्त-
चैतन्याधिष्ठितो भवतीत्यत्र ब्रह्मप्रणवतद्दीपिकादिकृत्स्नं प्रमाणं न केवलमिदं मानं
किं तु नृसिंहतापिनीपरमहंसपरिव्राजकाद्युपनिषदोऽपीत्यर्थः । एकस्यैव ब्रह्मप्रणवस्य
प्रकृतिपुरुषावयवयोगतो बहुत्वं स्वेन रूपेणैकत्वं चाह—पुनरिति । पुरा
ब्रह्मप्रणवावयवकारादेः अयुताद्यवयववैशिष्ट्यमुक्तं पुनरपि स्वातिरिक्तत्वेन । प्रकृत-
त्वात् प्रकृतिः । तस्याश्चतुष्पष्टिमात्रावैशिष्ट्यं कथं इत्यत्र व्यष्ट्यकारस्थूलकारादि-
पञ्चदश, तथा समष्टिस्थूलकारादिपञ्चदशविशिष्टं त्रिंशत्, तथा व्यष्टिसमष्टि-
जाप्रजाप्रदादित्रिंशत्, क्रियाज्ञानेच्छाशक्तित्रयं, माया चेत्याहल्य प्राकृतविभागश्च-
तुष्पष्टिः । तथा स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं नवप्रजापत्याद्यविकल्पानुज्ञैकर-
सान्तचैतन्यात्मना । पूरयतीति पुरुषः । तस्य चतुष्पष्टिपादमात्रत्वं कथं इत्यत्र
प्रजापतयो नव पञ्चीकृत्यनिर्वाहकपञ्चब्रह्मणः वसुर्द्रादित्या अन्तर्यामिकूटस्थाः
पञ्च, विश्वविश्वाद्यः पञ्चदश, विराड्विराडादिः पञ्चदश, ओत्रोत्रादिः पञ्चदश,
आहल्य चतुष्पष्टिः एवं निर्विशेषचिद्रातुरेव चतुष्पष्टिमात्रापादवत् प्रकृति-
पुरुषद्वैविध्यमासाद्य स्वयं वस्तुमात्रदृष्ट्या प्राकृतपौरुषयोगप्रभवाष्टाविंशत्युत्तर-
शतमात्रास्वरूपमासाद्येवासाद्य सगुणत्वमुपैति । स्वज्ञदृष्ट्या प्राकृतपौरुषभेद-

कलनापवादाधिकरणतया निर्गुणत्वं चोपैति । यत एकोऽपि ब्रह्मप्रणवः स्वाज्ञादि-
दृष्ट्या सगुणत्वं निर्गुणत्वं चावाप ॥ ३ ॥

परब्रह्मानुसन्धानम्

सर्वाधारः परं ज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः ।

सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥ ४ ॥

सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः ।

सर्वश्रुत्युत्तमो मृगयः सकलोपनिषन्मयः ॥ ५ ॥

भूतभव्यभविष्यद्यत्तिलोकादितमव्ययम् ।

तदप्योकारमेवार्थं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥ ६ ॥

तदेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम् ।

तदेकमजरममृतमनुभूय तथोमिति ॥ ७ ॥

सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति ।

त्रिशरीरं स्वमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु ॥ ८ ॥

परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।

अत एवायं सर्वारोपापवादाधिकरणतया सर्वाधारः जडाधारतया जडत्वं
स्यात् इत्यत आह—परं ज्योतिरिति । स्वस्य जडप्रपञ्चातिरिक्तत्वेनाजडस्व-
रूपत्वात् वस्तुतोऽयमेष सर्वेश्वरः स्वातिरिक्तसर्वापहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्म
मात्रतयाऽवस्थातुमीश्वरत्वादिति तमात्मानं परमार्थदृष्टयः स्वावशेषधिया विदुः
जानन्तीत्यर्थः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तन्मन्त्रप्राप्तोऽप्यनुवदति—सर्वेत्यादि ।
सर्वदेवमयः सर्वदेवतास्वरूपत्वात् । सर्वप्रपञ्चरोपाधार ईश्वरो यतो निष्पन्नः
सोऽयं प्रपञ्चाधारगर्भितः ॥ सर्वाक्षरमयः पञ्चाशद्वर्णार्थरूपत्वात् । कालः
कलयितृत्वात् सर्वस्य कलयितृत्वाद्वा । सर्वागममयः आगमशास्त्रार्थरूपत्वात् ।

शिवः स्वातिरिक्ताशिवप्रासत्वात् । किं च— सर्वेति । “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्” इति श्रुत्यनुरोधेन सर्वश्रुतिभिरोमिति यदुक्तं तद्ब्रह्मप्रणवार्थ-
तुर्यतुर्यस्वमात्रमित्येवायमात्मा मृग्य अन्वेष्टव्यः इतरथा मृगयितुमशक्यत्वात् ईशादिसकलोपनिषन्मयः सर्वोपनिषन्मुख्यार्थत्वात् यः कालत्रयावच्छिन्नः तदती-
तोऽपि तमेव मोक्षसाधनं विद्मीत्याह— भूतेति ॥ श्रीनृसिंहोत्तरतापिन्यां “ओमित्ये-
तदक्षरमिदं सर्वम्” इत्यादि “स आत्मा स विज्ञेयः” इत्यन्तं यथाव्याख्यात-
मत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ अयमात्मा ब्रह्मेत्यंशं विवृणोति—तदेवेति । “तदेकमजरम-
मृतमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमारोप्य तन्मयं हि तदेवेति तं वा
एतमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसंदध्यात्” इति श्रुत्यंशमनुकरोतीत्याह—
तदेकमिति ॥ ४-८ ॥

विश्वादीनां चातुर्विध्यम्

स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्परम् ॥ ९ ॥

ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः ।

चतुष्पाज्जागरितस्थानस्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ॥ १० ॥

एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः ।

स्थूलभुक्चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान् ॥ ११ ॥

विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः ।

सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परन्तप ॥ १२ ॥

सूक्ष्मभुक्चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम् ।

हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन ।

स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥ १४ ॥

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी ।
 नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥ १५ ॥
 तथाप्यानन्दमुक्चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः ।
 चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः ॥ १६ ॥
 एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः ।
 एषोऽन्तर्धान्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ॥ १७ ॥
 भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम् ।
 तत्सुषुप्तं हि तत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तत् कथं विश्वादीनां चातुर्विध्यं इत्यत्र—स्थूलत्वादिति ॥ “त्रयमप्येतत् सुषुप्तम्” इति समानश्रुतितः जाग्रदाद्यवस्थान्नयस्यापि सुषुप्तत्वं सर्वोपरमणाधिकरणज्ञानबाधकं जाग्रदाद्यवस्थान्नयेऽपि तत्त्वाग्रहणलक्षणस्वापस्य तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ स्वप्नं मायामात्रं इत्यत्र जाग्रत्स्वप्नावन्यथाग्रहणलक्षणावित्यर्थः ॥ ९-१८ ॥

तुर्याविस्थायाः चातुर्विध्यम्

चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम् ।
 तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥ १९ ॥
 ओतानुज्ञाननुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम् ।
 विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम् ।
 मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्ययम् ॥ २० ॥

जाग्रदाद्यवस्थान्नयस्य चातुर्विध्यमुक्त्वा तुर्याविस्थाया अपि चातुर्विध्यमुच्यते—चतुर्थ इति । कथं तुर्यपर्यवसितत्वं इत्यत्र—एकैकत्वानुसारत इति ॥

सर्वत्र तुर्यानुस्यूतिसाधनं किं इत्यत्र—ओतेत्यादि । अत्रापि ओत्रादित्रयमपि सुषुप्तमेव विश्वविश्वाद्यनुज्ञैकरसाविकल्पवदात्मावरणभेदप्रतीत्यवास्तवत्वसाम्यात् । तुर्यतुर्यातिरिक्तं सर्वं मायामात्रं इति विदित्वाथ वेदनोत्तरक्षणं स्वयमेव सच्चिदेकरसो ह्यवशिष्यत इत्यर्थः ॥ १९, २० ॥

तुर्यतुरीयो ब्रह्मप्रणवः

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम् ।

न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न कचिन्मुने ॥ २१ ॥

नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम् ।

नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च ॥ २२ ॥

तदलक्षणमग्राह्यं यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्य-
यसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स ब्रह्मप्रणवः
स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुबन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योति-
र्ब्रह्माकाशः^१ सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वात् । इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

युगपत्तुर्यतुर्यथात्म्याज्ञविकल्पिततुर्यतुर्यप्रविभक्तस्थूलाकारादिमात्रापञ्चदश-
परिणतव्यष्टिसमष्टिकलनान्वितजाग्रज्जाग्रदादितुर्यस्वापावस्थान्तारोपापवादाधिकरण-
विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तचैतन्यविभातविशेषजातापह्वसिद्धनिष्प्रतियोगिक-
तुर्यतुर्यमात्रं प्रपञ्चयति—विभक्त इत्यादिना । “स आत्मा स विज्ञेयः” इत्यन्तं
नृसिंहोत्तरतापिनीविवरणेन व्याख्यातं भवतीति मन्तव्यम् । प्रकृतब्रह्मप्रणवमुपसं-
हरति—स इति । अस्मिन्नुपदेशे यस्तुर्यतुरीयोऽभिहितः स ब्रह्मप्रणवः स एव
स्वमात्रमिति विज्ञेयः तुर्यतुर्यपिक्षया नापरस्तुरीयः तुर्यतुर्याधिगमादर्शनात्
तुर्यतुर्य एव स्वज्ञदृष्ट्या मुमुक्षूणामाधारः तत्प्राप्यत्वात् सर्वप्रकाशकभानुवत्

^१ उ. उ १. ब्रह्माकारः

स्वयंज्योतिः सूर्यादिज्योतिषामपि ज्योतिष्ठात् । वस्तुतो भास्यभासककलनापहव-
सिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया काशत इति ब्रह्माकाशः । सर्वदा स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे
सत्यसति स्वमात्रतया विराजते । कुतः परंब्रह्मत्वात् । स्वावशेषतया स्थितिर्युज्यत
इत्यर्थः । अष्टमोपदेशसमाप्त्यर्थोऽयमित्युपनिषच्छब्दः ॥ २१-२३ ॥

इत्यष्टमोपदेशः

ब्रह्मस्वरूपवर्णनम्

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ । तं होवाच
पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति । अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये
विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमु-
च्यते । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
तमेकस्मिन् त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिन्स्त्रियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च ।
 अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः परे ब्रह्मणि तत्परायणः ॥७॥
 संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
 अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
 ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
 अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्मेतत् ॥९॥
 क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
 तदभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
 ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
 तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥
 एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
 भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत् ॥
 आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १३ ॥

पितामहेन ब्रह्मयाथात्म्यमुक्तमपि पुनर्नैमिशारण्यवासिमुनिमण्डलबुद्धि-
 वैशद्यार्थं ब्रह्मस्वरूपं सप्रकारं पृच्छतीत्याह--अथेति । यदि त्वं परोक्षं
 मन्यसे तदा अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति स्वभेदेन ये विदुस्ते पशवः
 स्वस्वामिबद्धमानपशव इव स्वाज्ञानदृढपाशबद्धत्वात् ते स्वभावत एव पशवः
 इत्यत आह—न स्वभावपशव इति । तेषां स्वभावस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्र
 त्वात् यः सदा निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते तमेवं स्वमात्रमिति ज्ञात्वा विद्वान्
 मृत्युमुखात् प्रमुच्यते । स विद्वान् वेदनसमकालं स्वातिरिक्तास्तित्यमेव मृत्युः
 तन्मुखतः स्वाज्ञानात् मुच्यते स्वयं स्वमात्रमवशिष्यते इत्यर्थः । स्वाज्ञानप्र-
 भवस्वातिरिक्तबन्धस्य स्वज्ञानादृते विनाशो न विद्यत इत्याह—नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनायेति । एवं नारदेन साकं विधिमुखतः श्रुतवेदान्ता नैमिशारण्यवासिनो मुनयो मिलित्वा कालादिसांख्यान्तमतान्युपन्यस्याथ पूर्वपक्षत्वेन निरस्य यत् परमार्थतत्त्वं तदेव स्वमात्रं नातोऽतिरिक्तमस्तीति ध्यात्वा तन्मात्रमवशिष्यते इत्याह—काल इति । श्वेताश्वतरमन्त्रोपनिषदि “कालस्वभावः” इत्यारभ्य “तद्ब्रह्मोपनिषत् परम्” इत्यन्तं पदशो व्याख्यातमित्यत्रोपरतमिति मन्तव्यम् । एवं नैमिशारण्यवासिनः परमेष्ठीमुखतः “नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्” इति स्वातिरिक्तसर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विदित्वा वेदन-समकालं कृतकृत्याः सन्तः तन्मात्रमवशिष्यन्त इत्यर्थः ॥ १-१३ ॥

शास्त्रवेदनफलम्

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयन् ‘तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः’ । तस्माद्विराड् भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यन-श्वरस्वरूपम् ॥ १४ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १५ ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुर्ग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १७ ॥

सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम् ।

परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्धेदितव्यम् ॥ १८ ॥

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ।

अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभूधरम् ॥

स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम् ।

पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम् ।

परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ॥२०॥

यः कोऽप्येतच्छब्दं यथावद्वेद सोऽपि कृतकृत्यो भवतीत्याह—य एवमिति । य एवं मौनिपटलवत् गुरुमुखात् ससंन्यासज्ञानैकगम्यं ब्रह्म स्वमात्रमिति विदित्वा ततस्तत्स्वरूपमेव स्वात्मेल्यभेदं पश्यतः तत्र स्वरूपे स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति को मोहः तदपाये कः शोकः ब्रह्ममात्रावगतेः शोकमोहापहवपूर्वकत्वात् । यस्मादेवं स्वातिरिक्तापहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया विराजते तस्मात् विराट् । परमात्मैव स्वाज्ञदृष्ट्या यद्भूतादिकालपरिच्छेद्यं तत् स्वाज्ञदृष्ट्या स्वरूपमेव भवतीत्याह—भूतं भव्यमिति । वस्तुतः सन्मात्रातिरिक्तासदभावात् “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्” इति श्रुतेः । एवमात्मानं पश्यतो वीतशोकत्वमात्मनः करणग्रामाभावेऽपि करणग्रामप्रवृत्तिनिमित्तत्वं चाह—अणोरिति ॥ मन्त्रद्वयमपि श्वेताश्वतरे व्याख्यातम् । कथं पुनः आत्मज्ञानात् शोकात्ययः देहावच्छिन्नात्मनः शोकदर्शनात् इत्यत आह—अशरीरमिति ॥ शोकनिमित्तशरीरत्रयवैरल्यात् शरीरत्रयापहवसिद्धब्रह्मवेदनोपायमाह—सर्वस्येति । स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्य सर्वस्य जगतः विष्णवात्मना धातारं पोषकम् । ईश्वरात्मना अचिन्त्या अवटितघटनापटीयसी शक्तिर्यस्य तमचिन्त्यशक्तिं प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना सर्वागमान्तार्थः । “ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति,” “ब्रह्ममात्रमसन्न हि” इति परमसिद्धान्त एव विशेषार्थः । तन्मात्रतया वेद्यं स्वात्मानं ये जानन्ति तैर्ब्रह्मविद्धिः यत् परादक्षरादपि परं तदेव परमं ब्रह्म सर्वावसाने स्वातिरिक्तसर्वापहवे सति स्वमात्रमिति सकृदेव वेदितव्यम् । वेदनवृत्तेरप्युपरमात् यद्येवं वेदितुमशक्तस्तदा कविं इत्यादिविशेषणविशिष्टमीश्वरं वा चिरमुपास्य तत्प्रसादलब्धब्रह्मज्ञानेन निर्विशेषं ब्रह्मैवेतीत्याह—कविमिति । कविं सर्वज्ञत्वात् । पुराणं चिरन्तनत्वात् । आदिमध्यान्तं स्वस्य जन्मस्थितिलयाभावात् । शिवाच्युताम्भोरुहगर्भा हरहरिविरिञ्चितरवः तेषां प्ररोह-

गिरित्वात् ॥ किं च—स्वेनेति । स्वेनान्तर्याम्यादिभावमापन्नेनायं प्रपञ्चो व्याप्त इति वक्तव्ये इदं प्रपञ्चं इति विभक्तिलिङ्गव्यत्ययः । पञ्चात्मकं इत्यादिप्रपञ्च-विशेषणम् । तद्व्याप्त्या तत्संवृतत्वं स्यात् इति शङ्कायां असंवृतं इति विशेषणं असंवृतत्वे हेतुः । परात् परं इति महदव्यक्तादेरपि व्यापकत्वेन महत्त्वात् । वस्तुतः शिवं स्वातिरिक्ताशिवापह्नुवात् । सिद्धं ब्रह्मास्मीत्यात्मानं जानीयात् इत्यर्थः ॥ १४-२० ॥

ब्रह्मप्राप्तिः तद्धेतुश्च

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तोऽनासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं

नोभयतःप्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं

वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः ॥ २२ ॥

एवं ज्ञानी दुश्चरितादिवृत्तिमानपि ब्रह्माप्नुयादित्यत आह—नेति । दुश्चरितादिवृत्तिमतो ज्ञानानुदयात् यदि स्यात् प्रमादतस्तदाभासज्ञानं भवेन्नह्या-भासज्ञानं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुर्भवति । यस्मादेवं तस्मात् दुश्चरितादिवृत्त्यसंभव-निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रप्रज्ञानेन तद्भावापन्नो भवतीत्यर्थः ॥ स्वान्तर्बाह्याविजृम्भित-स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चासंभवब्रह्ममात्रज्ञानतो मुक्तो भवतीत्याह—नान्तःप्रज्ञमिति ॥ आवृत्तिरवधारणार्था ॥ २१, २२ ॥

परिव्राजकस्थितिः

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति, भयत्रस्त-

सारङ्गवत्तिष्ठति, गमनविरोधं न करोति । स्वशरीरव्यतिरिक्तं

सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसंधानं कुर्वन्सर्वमनन्य-
 बुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति । स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्त-
 को गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य मामोहितः ।
 परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी । धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः
 सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः
 सर्वेश्वरः सोऽहमिति । तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते
 योगिनः । सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि । न स पुनरावर्तते
 न स पुनरावर्तते । तत्कैवल्यम् । इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

एवं मुक्तिभाजनपरिव्राजकस्थितिमाह—स्वस्वरूपज्ञ इति । स्वस्वरूपं
 स्वमात्रमिति जानातीति स्वस्वरूपज्ञः । स्वाज्ञानतत्कार्यं परित्यज्यापह्वं कृत्वा
 स्वभावं ब्रजति भजतीति परिव्राट् । स्वातिरिक्तद्वयाभावात् स्वाज्ञदृष्ट्या
 जनसंबन्धेऽपि स्वदृष्ट्या परिव्राडेकाकी चरति । स्वाज्ञदृष्ट्या भयत्रस्तसारङ्गवत्
 तिष्ठति इव तिष्ठति । तथा स्वगमनविरोधं न करोतीव । स्वज्ञदृष्ट्या
 शरीराभावेऽपि परारोपितप्रातिभासिकस्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा
 षट्पदवृत्त्या माधूकरास्यपात्रवृत्त्या स्थित्वाहोरात्रं स्वरूपानुसंधानमेव कुर्वन्
 सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति । क्रियाकारकद्वैतशून्यः गुरुशिष्य-
 शास्त्रादिभिदागन्धविकलः नित्यानन्दस्वान्ततया न कदापि संसारदुःखमोहितः ।
 परिव्राट् कथं पुनः निर्धनिकः सुखी भवति ब्रह्ममात्रधनवतो नित्यसुखितोप-
 पद्यते ज्ञानाज्ञानोभयातीतः चिदाभासताया मृग्यत्वेन ज्ञानाज्ञानातीतत्वं
 “ज्ञानिताज्ञानिते चात्माभासस्यैव न चात्मनः” इति स्मृतेः । स्वयंज्योतिः
 प्रकाशमात्रत्वात् । यः सर्वापह्ववसिद्धब्रह्ममात्रतया अवस्थातुमीश्वरो भवति
 सोऽहं सर्वेश्वरः । योगिनो यत्पदं प्राप्याद्यापि न निवर्तन्ते तद्विष्णोः
 परिव्राजकस्य परमं पदम् । न हि तत्र सूर्यशशाङ्कौ भासेते । यत्पदमपुनरावर्तकं

तदेव हि कैवल्यम् । इतिशब्दो नवमोपदेशसमाप्त्यर्थः । उपनिषच्छब्दः नारद-
परिव्राजकोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ २३ ॥

इति नवमोपदेशः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
नारदीयविवरणं लिखितं स्यात् स्फुटं लघु ।
परिव्राजकोपनिषद्ब्रह्माख्याग्रन्थः सहस्रयुक् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्रिचत्वारिंशत्संख्यापूरकं
नारदपरिव्राजकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

निर्वाणोपनिषत्

वाङ्मे मनसि—इति शान्तिः ॥

मुख्यावधूतलक्षणम्

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ परमहंसः
सोऽहम् ॥ २ ॥ परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ॥ ३ ॥ मन्मथ-
क्षेत्रपालाः ॥ ४ ॥ गगनसिद्धान्तः ॥ ५ ॥ अमृतकल्लोलनदी ॥ ६ ॥
अक्षयं निरञ्जनम् ॥ ७ ॥ निःसंशय ऋषिः ॥ ८ ॥ निर्वाणो
देवता ॥ ९ ॥ निष्कुलप्रवृत्तिः ॥ १० ॥ निष्केवलज्ञानम् ॥ ११ ॥
ऊर्ध्वाम्नायः ॥ १२ ॥ निरालम्बपीठः ॥ १३ ॥ संयोगदीक्षा ॥ १४ ॥
वियोगोपदेशः ॥ १५ ॥ दीक्षासंतोषपावनं च ॥ १६ ॥ द्वादशा-
दित्यावलोकनम् ॥ १७ ॥ विवेकरक्षा ॥ १८ ॥ करुणैव केलिः ॥ १९ ॥
आनन्दमाला ॥ २० ॥ एकासनगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी ॥ २१ ॥
अकल्पितभिक्षाशी ॥ २२ ॥ हंसाचारः ॥ २३ ॥ सर्वभूतान्तर्वर्ती
हंस इति प्रतिपादनम् ॥ २४ ॥ धैर्यकथा । उदासीनकौपीनम् ।
विचारदण्डः । ब्रह्मावलोकयोगपट्टः । श्रियां पादुका । परेच्छाचरणम् ।

कुण्डलिनीबन्धः । परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः । शिवयोगनिद्रा च
 खेचरीमुद्रा च परमानन्दी ॥ २५ ॥ निर्गुणगुणत्रयम् ॥ २६ ॥
 विवेकलभ्यं मनोवागगोचरम् ॥ २७ ॥ अनित्यं जगद्यज्जनितं
 स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्, तथा देहादिसंघातं मोहगणजालकलितं
 तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् ॥ २८ ॥ विष्णुविध्यादिशताभिधानल-
 क्ष्यम् ॥ २९ ॥ अङ्कुशो मार्गः ॥ ३० ॥ शून्यं न संकेतः ॥ ३१ ॥
 परमेश्वरसत्ता ॥ ३२ ॥ सत्यसिद्धयोगो मठः ॥ ३३ ॥ अमरपदं
 न तत्स्वरूपम् ॥ ३४ ॥ आदिब्रह्म स्वसंवित् ॥ ३५ ॥ अजपा
 गायत्रीविकारदण्डो ध्येयः ॥ ३६ ॥ मनोनिरोधिनी कन्था ॥ ३७ ॥
 योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् ॥ ३८ ॥ आनन्दमिक्षाशी ॥ ३९ ॥
 महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः ॥ ४० ॥ एकान्तस्थान-
 मठम् ॥ ४१ ॥ उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा ॥ ४२ ॥ उन्मनी
 गतिः ॥ ४३ ॥ निर्मलगात्रं निरालम्बपीठम् ॥ ४४ ॥ अमृत-
 कल्लोलानन्दक्रिया ॥ ४५ ॥ पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः ॥ ४६ ॥
 शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता परावरसंयोगः तारको-
 पदेशः ॥ ४७ ॥ अद्वैतसदानन्दो देवता ॥ ४८ ॥ नियमः स्वान्त-
 रिन्द्रियनिग्रहः ॥ ४९ ॥ भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः ॥ ५० ॥
 परावरैक्यरसास्वादनम् ॥ ५१ ॥ अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः ॥ ५२ ॥
 स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंप्रुटितप्रपञ्चच्छेदनम्, तथा पत्रा-
 क्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् ॥ ५३ ॥ विभ्रत्याकाशाधारम् ॥ ५४ ॥
 शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्, तन्मया शिखा ॥ ५५ ॥ चिन्मयं

चोत्सृष्टिरण्डं संततोक्षिकमण्डलम् ॥ ९६ ॥ कर्मनिर्मूलनं कथा ।

मायाममताहङ्कारदहनं श्मशाने ॥ ९७ ॥ अनाहताङ्गी ॥ ९८ ॥

निर्वाणोपनिषद्वेद्यं निर्वाणानन्दतुन्दिलम् ।

त्रैपदानन्दसाम्राज्यं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

इह खलु ऋग्वेदप्रविभक्तेयं निर्वाणोपनिषत् पारिव्राज्यधर्मपूगप्रकटनपूर्वकं परमार्थतत्त्वप्रकाशिका विजृम्भते । अस्याः स्वरूपप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । इयं श्रुतिः उत्तमाधिकारिणः परिव्राजकानुपलभ्य स्वनाम्नोपनिषदमुपदिशति— अथेत्यादिना । अथशब्दः आश्रमत्रयानन्तर्यार्थः । विदेहकैवल्यमेव निर्वाणं तद्वोधिनीमुपनिषदं विद्यां श्रुतयो वयं व्याख्यास्यामः विवरणं कुर्मः इत्यर्थः ॥ वक्ष्यमाणविद्याप्रतिपाद्यं किं इत्यत आह—परमहंसः सोऽहमिति । स्वातिरिक्ता-पहवसिद्धः परमः परमात्मा चासौ पुनः स्वाज्ञविकल्पितस्वातिरिक्तभ्रमं हन्तीति हंसश्चेति प्रसक्तप्रत्यगभिन्नपरमात्मा योऽयं प्रकटितः सोऽहमिति सम्यग्ज्ञानसिद्धं प्रत्यगाद्याख्यासहं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं प्रतिपाद्यमित्यर्थः ॥ के अत्राधिकारिणः इत्यत्राह—परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गा इति । बाह्यसंसारं परित्यज्य दण्डादि-धारणलक्षणं व्यक्तविष्णुलिङ्गमवलम्ब्य परितो ब्रजन्तीति परिव्राजकाश्च ते पश्चिममन्तःसंन्यासलक्षणमव्यक्तविष्णुलिङ्गिनश्चेति स्वबाह्यान्तर्विलसितविक्षेपप्राप्त-व्यक्ताव्यक्तविष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थः । “सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना व्यक्ता-व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम्” इति श्रुतेः ॥ तेषामेवं विष्णुलिङ्गसत्त्वेऽपि विष्णुत्वं कुतः इति तत्राह—मन्मथक्षेत्रपाला इति । मदित्यस्मत्प्रत्ययालम्बनप्रत्यगादि-विभागासहब्रह्ममात्राज्ञानविजृम्भितसर्वशास्त्रमथनाविर्भूतमाविद्यकं पदं मन्मथक्षेत्रम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डबीजप्ररोहभूमित्वात् क्षेत्रत्वं युज्यते । तत्स्वातिरिक्तं नास्तीत्य-पोह्य अहमेवेदं सर्वं इति स्वात्ममात्राधिया पालनाद्विष्णुत्वं निरङ्कुशमित्यर्थः ॥ विष्णोः साकल्यप्रसिद्धेः तद्वापत्त्या तेषां सिद्धान्तोऽपि तथेत्यत आह—गगनसिद्धान्त इति । विष्णोः साकल्यं स्वाज्ञानसापेक्षं तदपाये “स एषोऽकलोऽमृतः” इति श्रुतिसिद्धनिष्कलविष्णुभावारूढानां गगनवन्निरवयवं

निष्कलब्रह्मगोचरोऽयं सिद्धान्तः इत्यर्थः ॥ तथापि पारिव्राज्योपाधियोगतः कथं तदन्तःकरणं निष्कलगोचरं भवतीत्यत आह—अमृतकलोलनदीति । निष्कलब्रह्मभावापन्नान्तःकरणं स्वमात्रभावामृततरङ्गचद्विरजानदीवच्चिदेकरसगोचरं तदन्तःकरणमित्यर्थः ॥ तेषां क्षयिष्णवादिगुणकान्तःकरणयोगतः तत्स्वरूपमपि तथैत्यत आह—अक्षयं निरञ्जनमिति । कामादिवृत्तिमदन्तःकरणं क्षयिष्णवञ्जनार्हं च भवेत् परिव्राजकान्तःकरणस्य तद्वैपरीत्येन निर्विकल्पब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वात् तद्रूपमक्षयं सर्वत्र निरञ्जनं चेत्यर्थः ॥ तेषामेवं बोधप्रदाता कीदृशः इत्यत आह—निःसंशय ऋषिरिति । श्रुत्याचार्यप्रसादमहिम्ना निःसंशयं यथा भवति तथा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावमृष्यवगच्छति शिष्यान् प्राहयति वेति निःसंशय ऋषिराचार्य इत्यर्थः । “सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुः” इति श्रुतेः । तथाविधदेशिकानुशिष्टपरिव्राट्पटलसेव्यदेवता केत्यत आह—निर्वाणो देवतेति । निर्वाणमिति वक्तव्ये निर्वाण इति लिङ्गच्यत्ययः । ब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणनिर्वाणं कैवल्यं तद्रूपतया देदीप्यमाना वासुदेवरूपिणी देवतेत्यर्थः ।

“सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि ।

सर्वानुप्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः ॥”

इति श्रुतेः ॥ एवं निर्वाणदेवताभावमापन्नानामपि स्वकुलानुरूपा प्रवृत्तिः स्यादित्यत आह—निष्कुलप्रवृत्तिरिति । स्वातिरिक्तकुलगोत्रादेः मायिकत्वेन कारणतुल्यत्वात् न हि ब्रह्ममात्रज्ञानसमकालं स्वान्यकुलानुरूपा प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा अस्तीत्यत्र—“उत्पन्नतत्त्वबोधस्य यथापूर्वं न संसृतिः” इति भगवत्पादोक्तेः । प्रवृत्तिसामान्याभावे देहधारणा कथमिति चेन्न । स्वदृष्ट्या देहतद्धारणाविभ्रम-वैरल्यात् । यदि प्रातिभासिकदृष्ट्या स्फुरेत्तदा देहधारणामात्रप्रवृत्तिनिवृत्त्योरपि तथात्वात् । न हि प्रातिभासिकप्रवृत्त्यादिः कार्यकारी भवति । “प्रतिभासत एवेदं न जगत् परमार्थतः” इति श्रुतेः ॥ किं तादृशज्ञानं केवलशास्त्रजन्यं नेत्याह—निष्केवलज्ञानमिति । शास्त्रीयज्ञानस्य स्वातिरिक्तसत्ताबाधकत्वेऽपि कार्यकारी प्रवृत्तेरबाधकत्वात् नेदं शास्त्रजं भवितुमर्हति किं तु तदुपेततत्त्वज्ञानमेवेत्यर्थः ।

एवं ज्ञानिभिः पठनपाठनादिकं न कार्यं ततो ब्रह्मविद्यासंप्रदायविच्छेदः स्यादित्यत आह—ऊर्ध्वान्नाय इति । तैः कर्तव्याकर्तव्यतया न किञ्चिदपि कार्यान्तरं विद्यते यदि प्राण्यदृष्टतः स्यात् तदा अधोभावंगतकर्म्मोपासनाकाण्डद्वयगोचरा-
न्नायजातपठनपाठनाभावेऽपि ऊर्ध्वं ब्रह्म यत्र उपनिषत्कदम्बे आम्नायते सोऽयं ऊर्ध्वान्नायः ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषत्पूगः गुरुतः स्वयं वा पठेच्छिष्यान् वा पाठयेत् । एवंकृते ब्रह्मविद्यासंप्रदायाविच्छेदोऽपि स्यादिति यत् तत् संहजं इत्यत्र—

“ सर्वेषु वेदेषूपनिषदमावर्तयेत् । ”

“ सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहेतुकीम् ।

कायः करोतु कर्माणि वृथा वागुच्यतामिह ।

तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्याम्नायमस्तकम् ॥ ”

“ विष्णुं ध्यायति धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।

साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ ”

इत्यादिश्रुतेः ॥ एवं ब्रह्मविद्यासंप्रदायप्रवर्तकानामवस्थानं सालम्बं स्यादित्यत आह—निरालम्बपीठ इति । स्वातिरिक्तालम्बनशून्यब्रह्ममात्रतया पीठ आसनं स्थितिरिति यावत् । “ निर्विशेषज्ञानिनः स्यात् स्वे महिम्नि सदा स्थितिः ” इति स्मृतेः ॥ तेषां क्वाभिनिवेशः इत्यत्र—संयोगदीक्षेति । सच्छिष्यपटल-
ब्रह्ममात्रज्ञानयोगवितरणे दीक्षा अभिनिवेश इवेत्यर्थः । एवमभिनिवेशाभासोऽपि शिष्यादृष्टनिमित्तो न स्वत इति भावः ॥ तदुपदेशः कीदृशः इत्यत्र—
वियोगोपदेश इति । प्रसक्तस्वातिरिक्तांस्तित्वभ्रमवियोगः न हि निष्प्रतियोगि-
कस्वमात्रे स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति विभ्रमावकाशोऽस्तीत्युपदेशः “ अनन्यप्रोक्ते
गतिरत्र नास्ति ” इति श्रुतेः ॥ एवं शिष्योपदेशत्रयप्रतया दुःखादिकं स्यादित्यत आह—दीक्षासन्तोषपावनं चेति । कुत्राप्यनभिनिवेशतः स्वाभिनिवेशाभासोऽपि शिष्यपटलसन्तोषकरः पावनकरश्चेत्यर्थः ॥ तद्दर्शनमपि तथेत्याह—द्वादशादि-
त्यावलोकनमिति । पावनहेतुद्वादशादित्यावलोकनवत् ब्रह्मवित्परिव्राजकाव-
लोकनमपि तथेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः ।

“खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्वृष्टिगोचराः ।

सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरवैः ॥” इति ॥

निरभिमानिनां रक्षा का इत्यत्राह—विवेकरक्षेति । ब्रह्ममात्रविवेको ज्ञानमेव रक्षा ।

“श्रुत्याचार्यप्रसादात्तत्त्वज्ञानास्तसंशयम् ।

ब्रह्मविष्णवादिबुधाः पालयन्ति त्यजां कुलम् ॥”

इति स्मृतेः ॥ तत्केलिः कुत्रेति तत्राह—करुणैव केलिरिति । स्वाज्ञपटलं स्वपद प्रापणीयमिति या करुणोदेति सैव केलिः ॥ तन्माला का इत्यत आह—आनन्दमालेति । स्वानन्दालंकृतत्वात् ॥ तद्गोष्ठी केति तत्राह—एकासन-गुहायामिति । सर्वत्रैकमेव आसनमवस्थानमटनं चलनं वा येषां ते एकासनाः । तेषां विहरणभूमिः गुहा तस्यां मुक्तः परित्यक्तः सिद्धासनादिपरिग्रहनियमो यैस्ते मुक्तासनाः तैः स्वरूपसुखं यल्लभ्यते तदेव गोष्ठी न हि जनसंवन्धिनी ॥ तदर्थं किं परैः भिक्षा कल्पनीयेति तत्राह—अकल्पितभिक्षाशीति । स्वार्थं गृहिणः पक्त्वा भुक्त्वा स्वस्थास्तिष्ठन्ति ग्रामैकरात्रादिनियमतो गोदोहनमात्रकाला-काङ्क्षिषु भिक्षुषु भिक्षार्थमागतेषु पुनस्तदर्थं पाकानवसरात् भुक्तशेषमेव दास्यन्तीति स्वार्थमविकल्पितां भिक्षामश्नातीत्यविकल्पितभिक्षाशी । तथा च स्मृतिः—

“ग्रामैकरात्रमटनं प्रवेशं चापराद्धके ।

गोदोहमात्रमाकाङ्क्षन्निष्क्रान्तो न पुनर्ब्रजेत् ॥”

इत्यादि ॥ तदाचारः कीदृशः इत्यत्र—हंसाचार इति । हंसशब्देन तत्त्वंपदार्था-बुच्येते तल्लक्ष्यैक्यानुसंधानमाचारः शीलमित्यर्थः ॥ ते शिष्येषु किं प्रति-पादयन्ति इत्यत्र—सर्वभूतान्तर्वर्तीति । स्वज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वभूतेषु स्वज्ञदृष्टयान्त-र्वर्ती हंसः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा परमार्थदृष्ट्या सर्वापह्ववसिद्धं ब्रह्म निष्प्रति-योगिकस्वमात्रमिति प्रतिपादनं कुर्वन्ति ॥ तेषां कन्थाकौपीनदण्डयोगपट्टपादुका-चरणबन्धमोक्षनिद्रामुद्राः कीदृशाः इत्यत आह—धैर्येत्यादिना । ब्रह्मातिरिक्तं

न किञ्चिदस्तीति मनोधैर्यमेव कन्था । स्वातिरिक्तोदासीनधीरेव कौपीनम् । सर्ववेदान्तार्थविचारो दण्डः । प्रत्यगभेदेन ब्रह्मावलोकनमेव योगपट्टः । स्वातिरिक्तबाह्यसंपच्छीरुच्यते तदस्पर्शनाय तस्यां पादुका । परेच्छयैव देहधारणमात्रचेष्टाचरणम् । तथा च श्रुतिः—“परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात् परेच्छया” इति । सुषुम्नायां कुण्डलिनीप्रवेशो भवितव्य इति संकल्प एव बन्धः स्वातिरेकेण नाडीकुण्डलिनीचिन्तायाः ब्रह्मावरणहेतुतया बन्धत्वं युज्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

“नाडीपुञ्जं सदासारं नरभावं महामुने ।

विमुच्यैवात्मनात्मानमहमित्यवधारय ॥”

इति । स्वातिरिक्तात् परः परमात्मा स्वातिरिक्तास्तित्वविभ्रम एव परापवादः परमात्मावरणं तस्माज्जीवन्नपि यो मुच्यते स जीवन्मुक्तो भवेत् । तथा च स्मृतिः—

“स्वातिरिक्तास्तित्ताभ्रान्तिः स्वमात्रावृत्तिरीरिता ।

स्वमात्रज्ञानखड्गेन तान् छित्त्वा विचरेद्यतिः” ॥ इति ॥

शिवाभेदेनावस्थानं शिवयोगः स एव निद्रा निर्विकल्पकसमाधिरित्यर्थः । चशब्दतः पुनर्व्युत्थानाभावो द्योत्यते खे चिदाकाशे स्वाज्ञदृष्ट्या स्वाविद्यापद-कल्पनायाश्चरितत्वात् खेचरी स्वाविद्यापादः तत्स्वातिरेकेणास्तीति धीः मुच्छब्देनोच्यते सर्वापहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रधिया खेचरीमुदं द्रावयतीति खेचरीमुद्द्रा तत्त्वज्ञानम् । चशब्दात् बाह्यखेचरीमुद्द्रापि गृह्यते ॥ मुद्द्रावक्तव्या दुःखरूपता स्यादित्यत आह—परमानन्दीति । परमानन्दीति लिङ्गच्यत्ययः । परमानन्दिनी खेचरीमुद्द्रेत्यर्थः । भजतामानन्दाप्तिहेतुत्वात् तथाविधानन्दब्रह्म ॥ किं सगुणं तत्राह—निर्गुणगुणत्रयमिति ॥ ब्रह्ममात्रसिद्धेः गुणत्रयतत्कार्यापहवपूर्वकत्वात् निष्प्रतियोगिकनिर्गुणं ब्रह्म केन लभ्यमित्यत आह—विवेकलभ्यमिति । ब्रह्मातिरिक्तं नेति तत्त्वज्ञानं विवेकस्तेनैव लभ्य-मित्यर्थः । “नान्यः पन्था अयनाय विद्यते” इति श्रुतेः ॥ लभ्यमित्युक्तिः

तत् किं सातिशयं तत्राह—मनोवागगोचरमिति । यत् स्वावशेषतया लभ्यं तत्करणग्रामापह्नवसिद्धं निरतिशयमित्यर्थः । ब्रह्मणः करणग्रामागोचरत्वेन ब्रह्मभावप्रसक्तौ स्वाज्ञानुभूतिसिद्धकार्यप्रपञ्चस्य कारणसापेक्षत्वान्न हि ब्रह्म विना तथाविधकारणं किञ्चिदस्ति ॥ अतो जगत्कारणत्वहेतुना ब्रह्मणो निष्प्रति-योगिकभावरूपत्वं सदृष्टान्तमाह—अनित्यमित्यादिना । यतो जगज्जन्तं तद्ब्रह्म नित्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ जगतो नित्यब्रह्मजत्वेन नित्यत्वं स्यादित्यत आह—अनित्यमिति ॥ किमिवानित्यमित्यत्र—स्वप्नेति । स्वप्नोपलक्षिता-वस्थात्रयतत्कार्यात्मकं जगत् अभ्रपरिदृश्यमानमोहगजादिमिथ्यावस्तुतुल्यं तथा समधिदेहादिसंघातं तन्मोहगणजालकलितं जगत् रज्जुसर्पवत् कल्पितम् ॥ तत्कल्पनाधिष्ठानं किं विष्णवादि तत्राह—विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्य-मिति । विष्णवादिशब्दाच्चविष्णवादयस्तल्लक्ष्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ विष्णवादिमार्ग-प्रापकहेतुः कः इत्यत्र—अङ्कुशो मार्ग इति । यथा रजःस्वामिनोऽङ्कुशः स्वेप्सितदेशगमनहेतुः तथाचिरादिमार्गो विष्णवादिप्रापकहेतुरित्यर्थः ॥ किं अचिरादि विष्णवादिव्यतिरिक्ततया शून्यमित्यत्राह—शून्यं न संकेत इति । अचिरादेः विष्णवाद्यव्यतिरेकात् न शून्यत्वं तद्रूपत्वेन सत्यमित्यर्थः । तथाच स्मृतिः—

“स्वारोपिताखिलाण्डाले स्वाभेदश्रुतिमानतः ।

प्राप्यप्रापकभेदेऽपि सर्वे विष्णवात्मकं जगत् ॥” इति ॥

तथा चेद्विष्णुरित्याख्या किं न स्यादित्यत्र तस्य विष्णुत्वेऽपि मार्ग इति व्यवहारतो व्यावहारिकोऽयं संकेतः व्यावहारिकदृष्ट्या वा भूवैकुण्ठयोर-धोर्ध्वपातित्वं मार्गस्य निरालम्बान्तरिक्षपातित्वं च प्रसिद्धम् ॥ तत्र गन्तु-पटलगमनयोग्यतासंपादकशक्तिः का इत्यत आह—परमेश्वरसत्तेति । परेषां जीवानां ईश्वरो विष्णुः तत्सत्तासामर्थ्यं गन्तुनिरालम्बमार्गगमनशक्तिप्रदतया पट्वीत्यर्थः ॥ साङ्कुशाचिराद्युक्त्वा ब्रह्ममात्रप्रापकोपायमाह—सत्यसिद्धयोगो मठ इति । “सन्मात्रमसदन्यत्” इति श्रुतिसिद्धसन्मात्रोऽहमिति भावनैव योगः तद्योगविश्रान्तिस्थानं विदेहकैवल्यमेव मठः तदेव निर्विशेषब्रह्मप्रापक-

मार्ग इत्यर्थः ॥ किं तन्मार्गद्वयप्राप्यममरपदम् । तत्राह—अमरपदं न तत्स्वरूपमिति । न हि मार्गद्वयगम्यममरपदं स्वर्गो भवितुमर्हतीत्यर्थः ॥ तथा चेत्तत् किं इत्यत आह—आदिब्रह्म स्वसंविदिति । सर्वादित्वादादिकारणं ब्रह्म कार्यसापेक्षकारणतापि नास्तीति या संविदुदेति सैवादिब्रह्म । स्वसंविद् स्वमात्रज्ञानस्वरूपमित्यर्थः । “विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इति श्रुतेः ॥ मुमुक्षुभिः केन रूपेणात्मा ध्येयः इत्यत्राह—अजपागायत्रीविकारदण्डो ध्येय इति । मूलाधारप्रभवोच्छ्वासनिःश्वासात्मिका हंसस्सोऽहमिति भावनामयी अजपेत्युच्यते । गायन्तं त्रायत इति गायत्री । स्वाविद्याद्वयतुर्योशरूपा स्वाविद्याद्वयस्थूलादिचतुरंशोऽपि तद्विकारेः तत्सर्वापहवसिद्धपरमात्मैवाजपागायत्रीविकारदण्डः परिव्राजकैः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया ध्येय इत्यर्थः ॥ एवं ध्यातुः परमहंसपटलस्य शीतादिद्वन्द्वत्राणनकरकन्था का इत्यत आह—मनोनिरोधिनीकन्थेति । मनः स्वाविद्यातत्कार्यं तन्निरोधिनी ब्रह्मविद्या सैव कन्था विद्यायाः स्वाविद्याविकल्पितशीतादिप्रासत्वात् ॥ विद्यया किं दर्शनीयं इत्यत आह—योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनमिति । प्रत्यक्परचितोरैक्यं योगः । तेन संजातसदानन्दस्वरूपदर्शनं विद्यानिष्पन्नमित्यर्थः ॥ एवं दर्शनसंपन्नः किमश्नातीत्यत आह—आनन्दभिक्षाशीति ॥ निर्विकल्पकावस्थायां स्वानन्दातिरिक्तभ्राम्यभिक्षासंभवात् तन्निवासभूमिः केल्यत आह—महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वास इति । महाश्मशाने काश्यां तत्राप्यानन्दवने ब्रह्मनालादिप्रदेशे वासो वसतिः कर्तव्येत्यर्थः । यद्वा—महदादिपञ्चभूतभौतिकजातभस्मीकरणहेतुत्वान्महाश्मशानं प्रत्यक्चैतन्यम् । गाढभूमानन्दः आनन्दवनम् । तस्मिन् महाश्मशानेऽप्यानन्दवने प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि स्वे महिम्नि स्वावशेषतया वासो वसतिर्भवेदित्यर्थः ॥ तत्सदनं कुत्रेति तत्राह—एकान्तस्थानमठमिति । स्वेतरजनसंवाधशून्यमेकान्तस्थानं तदेव मठं सदनमित्यर्थः ॥ तस्य चेष्टा का इत्यत आह—उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टेति । समाहितदशायामुन्मनी निर्विकल्पकावस्था ततो व्युत्थानदशायां सर्ववेदान्तार्थप्रकाशिनी शारदा ब्रह्मविद्या चेष्टेत्यर्थः ॥ तद्वतिः कुत्र इत्यत्राह—

उन्मनीगतिरिति । पदे पदे निर्विकल्पकरूपायामुन्मन्यां गतिर्धावनम् ॥ तत्पीठं किं इत्यत्राह—निर्मलगात्रं निरालम्बपीठमिति । उन्मन्यवस्थारूढस्य यतेः निर्मलगात्रं निर्विशेषज्ञानं ब्रह्ममात्रगोचरत्वं निरालम्बत्वं तत्र पीठमासनमित्यर्थः ॥ तत्क्रिया कीदृशी इत्यत्र—अमृतकल्लोलानन्दक्रियेति । अमृतकल्लोलवदानन्दसागर इव महागम्भीरतैव क्रिया परमार्थतो निष्क्रियत्वात् ॥ तत्सिद्धान्तः कः इत्यत्र—पाण्डरगगनमहासिद्धान्त इति । पाण्डरशब्देन चिदुच्यते । सैव गगनं चिदाकाशम् । तत् स्वमात्रमिति निश्चयो महासिद्धान्तः ॥ एवं सिद्धान्तोपदेशः स्वाराज्यप्रापक इत्याह—शमदमादीति । यथोक्ताधिकारी शिष्योद्देशेन देशिकोपदिष्टो मनुः प्रणवादिः तस्य स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमतः संतारणात् तारकत्वम् । एवं तारकोपदेशः शिष्याणां शमादिसाधनसंपत्तिपुरस्सरं प्रत्यक्परचिदैक्यहेतुः । तद्यथा स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः शमः । बाह्येन्द्रियनिग्रहो दमः । आदिशब्देन उपरत्यादिसाधनजातं गृह्यते । एवं साधनजातस्यासुरसंपदप्रासदैवीसंपत्प्रापकत्वात् दिव्यशक्तित्वं तदाचरणं तदनुष्ठानम् । तन्निर्वर्त्यशरीरं क्षेत्रं सर्वसाधनप्ररोहभूमित्वात् । तत्र शब्दादिविषयमदिरपातारं जीवं तन्मदिरवासनातो विमुखीकृत्य पालनात् त्राणनात् पात्रं अन्तःकरणं तयोः क्षेत्रपात्रयोः श्रवणादिसाधनानुष्ठानकरणसामर्थ्यं पटुता तद्धेतुः आचार्योपदिष्टतारक इत्यर्थः ॥ तारकप्रतिपाद्यदेवता का इत्यत्राह—अद्वैतसदानन्दो देवतेति । शिष्याचार्यजप्टृजपादिकलनाग्रासमद्वैतं ब्रह्म तत्स्वरूपभूतो योऽयं आनन्दः तस्य देदीप्यमानरूपत्वात् देवतेति संज्ञा न हि सातिशया देवतास्तीत्यर्थः ॥ तदास्त्युपायनियमः कः इत्यत्र—नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रह इति । स्वस्यान्तरिन्द्रियमन्तःकरणम् । तद्यथा कामादिवृत्त्याकारेण न परिणम्यते तथा 'ब्रह्माहम्' 'अहमेव ब्रह्म' इति निग्रहो ब्रह्माकारपरिणतिः, सैव नियमः । तथा च स्मृतिः—

“विषयेभ्यः परावृत्त्य करणग्राममञ्जसा ।

ब्रह्माकारेण युज्यस्व तद्धिते नियमो भवेत्” ॥ इति ॥

एवं नियमवता त्यक्तव्यं किं इत्यत्राह—भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्याग इति । जीवेशभिदा समुद्रुतं भयं देहादावात्मबुद्धिर्मोहः स्वाभिलषितवस्त्वपाय-
जः शोकः कामापूरणसंजातः क्रोधः तेषां त्यागः संन्यास एव त्यागः
तेनैव ज्ञानपरिपन्थि सर्वं त्यक्तमित्यर्थः ॥ एवं त्यागतः किं स्यात् इत्यत
आह—परावरैक्यरसास्वादनमिति । अतत्यागतो जीवेश्वरैक्यरसास्वादनं
भवेदित्यर्थः ॥ एवं रसास्वादनतः किं भवेत् इत्यत आह—अनियामकत्व-
निर्मलशक्तिरिति । ईश्वरेण स्वस्वकार्ये नियम्यत इति नियम्यं जीवजातम् ।
तदन्तर्यामिनियामकः ईश्वरः । तयोः मायिकत्वेन तदतीतत्वं अनियामकत्वं
सर्वसाक्षित्वम् । तस्य नियम्यनियामकभिदा प्रासत्वात् तदेव निर्मलशक्तिः
सर्वावभासकत्वसामर्थ्यमित्यर्थः ॥ एवं शक्तितः किं भवेत् इत्यत आह—
स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्व इति । स्वाविद्याद्वयतत्कार्यापह्नवसिद्धे स्वप्रकाशमात्रे
ब्रह्मतत्त्वे तदज्ञैः शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चः समारोपितः । तत्रत्यसच्चित्सुखं
शिवांशः नामरूपे सच्चित्सुखावृती शक्त्यंशः तयोश्चिदचितोस्तेजस्तिमिरवत्
परस्परविरुद्धयोः योगो मायया संपुटितः यो घटपटादिप्रपञ्चः तस्योच्छेदनं
“अहं ब्रह्मास्मि” इति ज्ञानासिना यथा भवेत् तथा ब्रह्मसम्यग्ज्ञानाग्निना
पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनं भवेदित्यर्थः । स्वकार्यजातं परितः
आवृत्य त्रायते गोपयतीति जीवेशभ्रान्तिजतादात्म्यास्पदं व्यष्टिसमष्टिकारण-
शरीरं पत्रमित्युच्यते । तत्कार्यं विशल्यवयवशोभिजीवेशसहजतादात्म्यास्पदं
व्यष्टिसमष्टिलङ्घ्यशरीरमक्षमित्युच्यते । तत्कार्यतया जीवेशकर्मजतादात्म्यास्पदं
व्यष्टिसमष्टिपिण्डब्रह्माण्डाल्यस्थूलशरीरमक्षीत्युच्यते । एवं पत्राक्षाक्ष्यभिध-
शरीरत्रयं येषां ते पत्राक्षाक्षिकाः प्राज्ञतैजसविश्वामित्रेश्वरसूत्रविराजः । तेषां
मण्डलं पटलं स्वदृष्ट्या । एतत्सर्वं साक्ष्यजातं साक्षिभास्यं साक्ष्यसापेक्ष-
साक्षिताया अपि दहनं विलापनं भवेदित्यर्थः ॥ ततो ब्रह्म किं रूपं विभ-
र्तीयत आह—विभ्रत्याकाशाधारमिति । स्वाधेयाकाशादिपञ्चमहाभूततत्कार्या-
धारत्वेन आधेयसापेक्षाधारतापह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया यदवशिष्यते
स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति तदेवंरूपं परमार्थदृष्ट्या विभ्रति । य एवंवित्
सोऽयं ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वरीयान् मुख्यावधूतो भवतीति भावः ॥ शिखायज्ञोप-

वीतविरलानां कथं ब्राह्मणता इत्यत आह—शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतं तन्मया शिखेति । स्वातिरिक्ताशिवप्रासं शिवं तुरीयं तुरीयातीतं वा ब्रह्मैव यज्ञोपवीतं शिखा च शिवमया शिवमयीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

“शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥” इति ॥

इत्थंभूतब्राह्मणदृग्गोचरं जगदपि चिन्मयं इत्याह—चिन्मयमिति । उत्सृष्टिः पर्वतवृक्षलतागुञ्जादिसमष्टिः । तज्जातिरण्डं स्थावरम् । सम्यक्कृतः सन्ततः विविधरूपत्वात् अक्षी स्थूलशरीरादियेषां ते सन्ततोक्षिकाः जीवाः जङ्गमात्मकाः । तेषां मण्डलं पटलं चिन्मयमेव भवेदित्यर्थः । “जीवश्चिन्मात्रविग्रहः” इति श्रुतेः ।

“यथा मृत्पिण्डसंभूतो घटादिः किञ्च मृन्मयः ।

तथा स्थिरचरं विश्वं चिन्मयं चित्समुद्भवात् ॥”

इति स्मृतेश्च ॥ तद्दृष्ट्या विश्वं चिन्मयमस्तु तस्यापि शरीरत्रययोगतः सांसारिकी प्रवृत्तिः स्यात् इत्यत आह—कर्मनिर्मूलनमिति । स्वाविद्या द्वयतत्कार्यशवपूगदहनयोग्ये श्मशाने प्रत्यगभिन्नब्रह्मणि मुख्यावधूतत्वप्राप्तिहेतु-तत्त्वज्ञानसूर्योदयसमकालं स्वाविद्याद्वयतत्कार्यकर्मत्रयतत्कार्यशरीरत्रयतज्जाहंकारः ममकारतन्निर्वर्त्यसंसारध्वान्तस्य दहनमपह्नवंगत्वात् न पुनः तस्य संसारप्रवृत्ति-निवृत्तिध्वान्तोऽस्ति नास्तीति का कथा किमाश्चर्यं इत्यर्थः । तथाप्यादेहपातं संसारानुवृत्तिः स्यादिति चेन्न तस्य परदृष्टिनिमित्ततया किञ्चित्करत्वात् । देहधारणमात्रसंसारो वा स्यादिति चेन्न देहधारणमात्रसंसारस्य देहादा-वात्मात्मीयाभिमानाभावात् असंसारत्वात् ।

“देहश्चिरं तिष्ठतु वा तत्काले लयमेतु वा ।

स्वज्ञानकालमुक्तस्य पुनःसंसारितां कथम् ॥”

इति स्मृतेः ॥ परमार्थदृष्ट्या देहत्रयाभावे स कथं तिष्ठेत् इत्यत आह—अनाहताङ्गीति । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रज्ञानेन आसमन्ताद्गतमाहृतं अविद्या-

पदतत्कार्यजातं अपह्ववरूपं तस्याप्यपह्ववसिद्धं अनाहताङ्गं तद्रूपेण स्थितत्वात्
अयमनाहताङ्गी । ब्रह्ममात्रज्ञानसमकालमेव स्वशरीरत्रयमस्ति नास्तीति विभ्र-
मस्यापह्ववंगतत्वात् मुख्यावधूतो विदेहमुक्तो विचरोदित्यर्थः ॥ १-९८ ॥

गौणावधूतः, तच्चर्या, तत्फलं च

निर्द्वैगुण्यस्वरूपानुसंधानं समयं भ्रान्तिहननम्^१ । कामादि-
वृत्तिदहनम् । काठिन्यदृढकौपीनम् । चिराजिनवासः । अनाहत-
मन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम् । स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः ॥ ९९ ॥

मुख्यावधूतलक्षणमेवमुक्त्वा गौणावधूतं तच्चर्यां तत्फलं च व्यक्तीकरोति
— निर्द्वैगुण्येत्यादिना । सत्त्वादिगुणानां समाहारस्त्रैगुण्यम् । स्वाविद्यापदत-
कार्यजातं तदपवादाधिकरणं निर्द्वैगुण्यं 'ब्रह्माहम्', 'अहं ब्रह्म', इति भावन-
मनुसंधानम् । तदपि समयं समायमित्यर्थः । एवमनुसंधानस्य विद्यावृत्तित्वेन
ब्रह्ममात्रावृत्तिरूपत्वात् भ्रान्तित्वं तद्धननं नाशनं कुर्यादित्यर्थः । तथा
कामसंकल्पादिवृत्तिदहनं विलापनं च । द्विविधब्रह्मचर्यहेतुमृदुकार्पास-
कौपीनविलक्षणतया काठिन्यदृढकौपीनान्तरितशोफगतोर्ध्वरेतस्त्वं च ।
शीतवातोष्णत्राणनपटुवासोविलक्षणचिराजिनवासोदिगाम्बरत्वं च वा ।
अनाहतमन्त्रं तुरीयोङ्कारं च । तुरीयोङ्कारस्य तुर्यतुर्यत्वेन केनाप्यनाहतत्वात्
“तुरीयोङ्काराप्रविद्योतं तुर्यतुर्यं” इति श्रुतेः । अनाहतमन्त्रं तुर्यतुर्यं ब्रह्म ।
अक्रियया सर्वविक्रियापह्ववसिद्धया चिन्मात्रधिया जुष्टं सेवितम् । यद्वा
गौणावधूतं ब्रह्मात्मेति मन्तारं त्रायत इति मन्त्रं सम्यग्ज्ञानं च स्वरूपानु-
संधानतो भवेदित्यर्थः । गौणावधूतोऽप्येवं साधनसंपन्नश्चेत् मुख्यावधूतो
भवति तदा तस्य विधिनिषेधप्रवृत्तिनिवृत्त्यतीतत्वेन शिष्टशिक्षणरूपोऽयं
स्वेच्छाचारो भवेत् न तदुन्मार्गप्रापको भवितुमर्हति । सोऽपि स्वस्वभावः

^१ उ. उ. १. 'भ्रान्तिहरणम्'.

क्रियाकारकबन्धप्रासत्वात् । स एव मोक्षः स्वेतरकलनापहवसिद्धपरमात्म-
रूपत्वात् ।

“ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः सैव योग इतीरिता ।
योगेन गतकामानां भावना ब्रह्म चक्षते ॥”

इति स्मृतेः ॥ ५९ ॥

मुख्यावधूतोपायसंपत्तिः

परंब्रह्मप्लवदाचरणम् । ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम् । ब्रह्मचर्या-
श्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्न्यासं संन्यासम् । अन्ते
ब्रह्माखण्डाकारं नित्यं सर्वसंदेहनाशनम् ॥ ६० ॥

मुख्यावधूतत्वं यदुपायकं तदुपायसंपत्तिं तत्फलमपि प्रकटयति—परं
ब्रह्मेत्यादिना । आदौ तावत् गृहस्थेतरो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा स्वाश्रमाचार-
संपन्नः सन् अपारगम्भीरविस्तारसंसारसागरोत्तारणार्थं सर्वस्मात् यत् परं
तद्ब्रह्म तद्गोचरज्ञानं परं ब्रह्म प्लवं तद्वान् मुख्यावधूतः तदाचरणं तत्सेवनं
कृत्वाथ तन्निकटे स्वचित्तशुद्धिपर्यन्तं द्विविधब्रह्मचर्यपुरस्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ
शान्तिदान्यादिग्रहणं साधनचतुष्टयोपलक्षणार्थं तदभ्यस्याथ बाह्यान्तर्विक्षेपक-
बलितश्रवणाद्यनुष्ठानानर्हकाम्याश्रममप्राप्यैव स्वाविद्याद्वयतत्कार्यप्राप्तसर्ववेदान्त-
शास्त्र स्वाचार्यमुखतो ब्रह्मचर्याश्रमे वानप्रस्थाश्रमे तुर्याश्रमे वा अधीत्याध्ययनं
श्रवणं कृत्वाथ मननं निदिध्यासनं च मुख्यावधूतताद्देतुपूर्वाभ्यस्तसाधन-
विन्याससहितं स सर्वविन्न्यासाधिकरणं कबलीकृतसर्वसन्देहादिवृत्तिपटलं देह-
त्रयाभिमानान्तकाले संन्यासमखण्डाकारं ब्रह्म भूत्वा मुख्यावधूतो विदेहमुक्तो
भवतीत्यर्थः ।

“न्यास इति ब्रह्म । न्यास एवात्यरेचयत् ॥,”

“अक्षरत्वाद्विरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात् ।

तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥,”

“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इत्यादिश्रुतेः ॥ ६० ॥

अधिकारिनिर्माणम्

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम् ।

इत्युपनिषत् ॥ ६१ ॥

एतच्छास्त्रमनधिकारिणे न देयं, यथोक्तसाधनसंपन्नाय देयं, इत्युप-
संहरति—एतदिति । एतन्निर्वाणदर्शनं “निर्वाणोपनिषन्नामकं शास्त्रं नास्या-
ब्रह्मवित्कुले भवति” इति श्रुत्या ब्रह्मवित्कुलप्रसूतस्य यथोक्तसाधनवैकल्येऽपि
क्रमेण भवेदिति द्योत्यते । तस्मात् पुत्रो मुख्याधिकारी यदि शिष्यो
यथोक्ताधिकारी तदा सोऽप्यधिक्रियते यत एवमतः पुत्रं शिष्यं विना यस्मै
कस्मैचिन्न देयमित्यर्थः । “नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः”
इत्यादिश्रुतेः । इत्युपनिषच्छब्दौ निर्वाणदर्शनसमाप्तिद्योतकौ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

निर्वाणोपनिषद्व्याख्या लिखिता हरितुष्टये ।

निर्वाणोपनिषद्व्याख्या पञ्चाशद्युक्छतद्वयम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तचत्वारिंशत्संख्यापूरकं

निर्वाणोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

परब्रह्मोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः ॥

वरिष्ठा ब्रह्मविद्या

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं
विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु ।
कथं सृजन्नित्यात्मन एष महिमा विभज्य एष महिमा विभुः कः ।
एष तस्मै स होवाच । एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां
देवेभ्यः प्राणेभ्यः परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं
विभाति स नियच्छति ¹ मधुकरराश्या निर्मकः अकर्मस्वपुरस्थितः
कर्मकः कर्षकवत् फलमनुभवति । कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति ।
कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात् । को जालं विक्षिपेदेकेनैनमपकर्ष-
त्यपकर्षति ॥ १ ॥

परब्रह्माख्योपनिषद्वेद्याखण्डसुखाकृति ।

परिव्राजकहृद्देहं परितस्त्रैपदं भजे ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्त्यं परब्रह्मोपनिषत् ज्ञानशिखोपवीतप्रकटनव्यग्रा
ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । शौनक-

¹ उ. 'मधुकरः श्वेवं विकर्मकः' अयमपि पाठः मूलकोशे दृश्यते ।

पैप्पलादप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—
 अथेति । पप्रच्छ किमिति । लोके ये ये सृज्यमानाः पदार्थाः ते सर्वे पूर्वमेव
 दिव्ये ब्रह्मपुरे हिरण्यगर्भहृदयाकाशे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु । तत्र
 आक्षिपति—कथमिति । स्वान्तस्स्थपदार्थान् विभागशः प्रविभज्य एष महिमा
 अघटितघटनाशक्तिसंपन्नो भगवान् स्वात्मनः सकाशात् कथं तान् सृजन्नवतिष्ठते ।
 क एष महिमा विभुरिति शौनकप्रश्नोत्तरमेष पिप्पलाद आह—एष इति ।
 य एष पिप्पलाद इति ख्यातः तस्मै शौनकाय स होवाच । किमिति ।
 यदहं ते वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां प्राब्रुवि तदेतद्ब्रह्म सत्यं असत्यसंभवप्रबोधसिद्धत्वात्
 “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्”, “ब्रह्मात्रमसन्न हि” इति श्रुतेः । तत्
 कुत्रोपलभ्यते इत्यत्र ब्रह्मपुरे रजआदिगुणत्रयाभावाद्विरजं प्राणादिनामान्त-
 षोडशकलावैरल्यन्निष्कलम्, अत एव शुभ्रमक्षरं विभाति । किं कुर्वन् विभाति
 इत्यत्र श्रोत्रादिदेवेभ्यः इन्द्रियेभ्यः प्राणापानादिदशप्राणेभ्यश्च स्वस्वविषयग्रहण-
 शक्तिं दिशत् सत् तद्गतगुणदोषास्पर्शनतो विरजं विभाति प्रत्यगदृष्टेरेवं
 सदोपलभ्यत इत्यर्थः । पराग्भावे सति प्रत्यगदृष्टिः कथमुदेति इत्यत्र इहामुत्रार्थ-
 फलहेतुमध्याख्यानि कर्माणि कुर्वन्तीति मधुकराः जीवाः । तेषां राशिः
 समूहः तं आभूतसंज्ञं बन्धमोक्षव्यवहारार्हतया निर्मितवानिति निर्मकः ।
 य एवं निर्माता परमेश्वरः स एव मुमुक्षुपटलानुकम्पया तद्गतपराग्भावं नियच्छति
 निगृह्णाति निःशेषं प्रसति । ततो मुमुक्षूणां प्रत्यगदृष्टिः प्रसीदति प्रत्यगदृष्टेः
 ब्रह्मोपलभ्यत इत्यर्थः । स्वात्मानं पुरस्कृत्य तद्भावभावनया तिष्ठतीति स्वपुरस्थितः
 प्रत्यगदृष्टिः किं कर्मी इत्यत्र स्वकर्तव्यकर्मसामान्यं यस्य ।

“कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।

तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥”

इति श्रुत्यर्थपर्यालोचनया न स्फुरति सोऽयमकर्मकः परिव्राडित्यर्थः । तस्य
 कृतकृत्यत्वात् “कर्तव्यं नैव तस्यास्ति” इति श्रुतेः । तद्विपरीतपरागदृष्टिस्तु
 स्वेहामुत्रफलोद्देशेन विविधं कर्मजातं करोतीति कर्मकः कर्मकृत् कर्षकवत्

स्वकृतोच्चावचकर्मफलं नानायोगिजन्मप्रापकमनुभवति । यत एवमतः कर्ममर्म-
जन्मादिहेतुः कर्मेति ज्ञाता पुरुषः चित्तस्य शुद्धये कर्मेति विदित्वा
परमेश्वराराधनधिया कर्म करोति । यः स्वातिरिक्तभ्रमतो मोक्तुमिच्छति स मुनिः
कर्ममर्म ज्ञात्वा निष्कामधिया स्वाश्रमोचितकर्म कुर्यात् । एके एकस्मिन् ब्रह्मणि
निष्णातः । को वा विवेकी विविधकर्मजालं विश्लिषेत् निर्विशेषब्रह्मज्ञान-
प्रापकचित्तशुद्धिहेतुनिष्कामकर्मानुष्ठानं विना मुधा काम्यकर्म कुर्यात् कोऽपि न
कुर्यादित्यर्थः । निष्कामधिया अनुष्ठितकर्माप्येनमधः कर्षतीत्यत आह—नेति ।
एनं निष्कामधिया कर्मानुष्ठानं तदनुष्ठितकर्म सांसारिकविषये जात्वापि नैवापकर्षति ।
द्विरुक्तितः स्वानुष्ठानतः चित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा महत्पदं प्रापयेत् इति
द्योत्यते ॥ १ ॥

त्रिपाद्ब्रह्मप्रापकोपायः

प्राणदेवताश्चत्वारः । ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तशयेनाकाशवत् ।
यथा श्येनः स्वमाश्रित्य याति स्वमालयं कुलायम् । एवं सुषुप्तं ब्रूतायं
च परं च । स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे अमृता ह्येषा नाडीत्रयं
संचरति । तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रेभ्य ततोऽनुतिष्ठति । अन्यत्र
ब्रूतायं च परं च । सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे यथैष देवदत्तो यष्ट्या
च ताड्यमानो नैवेत्येवमिष्टापूर्तशुभाशुभैर्न लिप्यते । यथा कुमारको
निष्काम आनन्दमभियाति । यथैष देवः स्वप्न आनन्दमभिधावति ।
वेद एव परं ज्योतिः । ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव । तत्परं
यच्चित्तं परमात्मानमानन्दयति । शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात् । भूतस्ते-
नैव मार्गेण स्वप्नस्थानं नियच्छति । जलूकाभाववद्व्यर्थाकाममाजायते-
श्वरत्वात् । तावतात्मानमानन्दयति । परसन्धि यदपरसन्धीति ।

तत्परं नापरं त्यजति । तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एष स्तन-
इवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरित्यत्र जाग्रति । शुभाशुभाति-
रिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते । यं एष देवोऽन्यदेवस्य संप्र-
सादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः प्रणवहंसः परं ब्रह्म न प्राणहंसः
प्रणवो जीवः । आद्या देवता निवेदयति । य एवं वेद । तत्कथं
निवेदयते । जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति ॥ २ ॥

निर्विशेषब्रह्मज्ञानप्राप्यत्रिपाद्ब्रह्मप्रापकोपायः कः इत्यत आह—प्राणेति ।
यन्निष्कामकर्म नापकर्षति किं तु चित्तशुद्धिज्ञानद्वारा ब्रह्मपदं प्रापयतीत्युक्तं तद्ब्रह्म
कीदृशम्, तदाप्त्युपायश्च कीदृशः इत्यत्र जीवस्य प्राणाधारतया विश्वादिपुरीयान्त-
भेदेन प्राणदेवताश्चत्वारः चतस्रः । तास्तासां उपलब्धिनाडयोऽपि रमारमेच्छा-
पुनर्भवादिभेदेन चतस्र एव तत्र रमारमाख्यनाडीद्वयमवष्टभ्य खेसञ्चारश्रान्तश्चेनवत्
जाग्रत्स्वप्नव्यवहारश्रान्तः सुषुप्तो भवति । तत्र दृष्टान्तस्तु यथा श्येनः
खमाश्रित्य चिरसञ्चारतः श्रान्तः सन् स्वनीडं प्रतियाति तथैवं ब्रूता वक्ता
जीवोऽपि अयं जाग्रत्प्रपञ्चस्तदपेक्षया परं च स्वप्नप्रपञ्चस्तयोर्यवहृत्य श्रान्तः सन्
स्वविश्रान्तिस्थानं नाडीद्वयमेव सुषुप्तो भवति । सोऽयं क सुषुप्तश्चरतीत्यत्र
“यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः” इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन
सर्वत्र सर्वव्यापके हिरण्यमये परे कोशे हृदयाकाशे वस्तुतोऽमृता ह्येषा
जीवरूपिणी देवता रमादिनाडीत्रयमवष्टभ्य जाग्रदाद्यवस्थात्रये बन्धमोक्षादि-
व्यवस्थायां च यः संचरति । तस्यैकपदमाविद्यकं तत्संबन्धवैरूप्येन त्रय्यन्तैः
पद्यते स्वावशेषेण त्रायत इति त्रिपादं त्रैपदं ब्रह्मावशिष्यते इत्यत्र ।

“त्रय्यन्तैः स्वावशेषेण पद्यते जायते च यत् ।

तत् त्रैपदं परं ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यते ॥ ”

इति स्मृतेः । यदेवमवशिष्टमत्रैवैषा जीवाख्या देवता स्वरूपमेष्ट्य प्राप्य
ततस्तन्मात्रमनुतिष्ठति अवतिष्ठते मुक्तो भवति । ततस्तस्मादन्यत्राविद्यकपदे

अयं च परं चेत्युपलक्षितावस्थात्रयतत्कार्यप्रपञ्चे स्वातिरिक्तमस्तीति ब्रूता
 स्वाज्ञो जीवः परिभ्रमति । सर्वत्र सर्वदायं हिरण्ये परे कोशे चिरं चरन्नपि
 स्वाज्ञानावरणच्छन्नः सन् जाग्रदाद्यवस्थात्रयगते पतति । तस्यापि श्रुत्याचार्य-
 प्रसादतो निष्कृतिर्भवेत् इत्यत्र दृष्टान्तः । यथैष देवदत्तो निद्रालुर्यष्टया च
 ताड्यमानः सन् बोधितः पुनः नैव सहसा स्वापमेति तथा अयमपि जीवः
 श्रुत्याचार्यप्रसादलब्धवेदान्तज्ञानेन 'न त्वमवस्थात्रयभाक् जीवः, किं तु
 तदवस्थात्रयारोपापवादाधिकरणं ब्रह्मासि' इति बोधितः सन् न पुनरवस्थात्रये
 मुह्यति । तत्र विकल्पितेष्टापूर्तादिशुभाशुभकर्मभिः न लिप्यते । यथा वा
 कुमारो बालकः इदं मे स्यादिति कामवृत्त्यनुदयान्निष्कामः यदच्छाप्नाप्तवस्तु-
 न्यानन्दमभियाति । यथा चैष संप्रसादो देवः स्वप्ने जागरे च व्यवहरन्
 श्रान्तः स्वापावस्थानिष्पन्नानन्दं प्रत्यभिधावति । तथैवं श्रुत्याचार्यमुखतः
 स्वानन्दमात्रं ब्रह्माहमस्मीति यो वेद सोऽयं एवं पराक्प्रपञ्चतः परंज्योतिः
 प्रत्यक्प्रकाशो भूत्वा सूर्यादिज्योतिषामप्या समन्तात् भासकज्योतिरस्मीत्यात्मान-
 मानन्दयति स्वानन्दरूपेणावतिष्ठते । एवमेव यच्चित्तं तत् परंब्रह्माकारपरिणतं
 भवति तत्परमात्मानमेत्यानन्दयति स्वात्मानं प्रीणयति, तत्परवशं
 सत्तत्रैव विलीयत इत्यर्थः । एवं चित्तप्रसादः कुतो जातः इत्यत्र ईश्वरादस्य
 शुभ्रवर्णं वर्णो निर्विकल्पभाव आजायते ईश्वरस्याजडक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिमत्त्वेन
 स्वभक्तारिष्टप्रासेष्टप्रापकत्वात् । एवं त्रिपुटिविरलनिर्विकल्पकसमाधिमनुभूय भूयस्ते-
 नैव मार्गेण स्वप्रस्थानं "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" इति किञ्चि-
 त्त्रिपुटिविशिष्टाखण्डाकारवृत्त्यात्मकतुर्यस्वप्नं प्राप्य तत्रात्मानं नियच्छति
 विश्रामयति । यथा जल्लका स्वाधिष्ठितभावात्तृणात् भावं तृणान्तरं गच्छति तथा
 अयमपि विद्वान् तुर्यजागरणस्थः तुर्यस्वप्नस्वप्नमवलम्ब्य तुर्यजागरणं त्यजति ।
 एवं तुर्यावस्थाप्रविभक्तावस्थात्रयसञ्चरणे कामं कामोऽभिलाषः आजायतेश्वरत्वात् ।
 तावतायं सविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधिभ्यां स्वात्मानमानन्दयति । ततः
 प्रत्यक्परचितोर्यत्सन्धिः तयोरैक्यं तद्भेदसापेक्षैक्यमपरमीषत् विशेषवदिति सन्धीति
 सन्त्यजति । यदेवं निर्विशेषं जातं तदेव परब्रह्म तदतिरेकेण नापरमस्ति यद्वा

स्वातिरिक्तमपरमस्तीति न त्यजति ब्रह्मात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वात् । यदैवं केवलश्रवणादिमात्रेण निर्विशेषब्रह्मज्ञानं नोदेति तदैवम् । कं परमसुखमसुख-
कामादिवृत्तिभ्यः पृथक्कृत्य पालयन्तीति कपालानि योगाङ्गानि । तेषामष्टकं
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यात्मकं कपालाष्टकमष्टाङ्गयोग-
मनुसन्धाय यथावदभ्यस्य तद्वलेन चित्तगतमालिन्यं संक्षाल्य निर्विशेषज्ञानमवाप्य
कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । योगध्यानाधिकरणं किं इत्यत्र य एष स्तन इव
कंदलीपुष्पमिव च उरःप्रदेशे सदा अवलम्बते सोऽयं योगकाले ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्
विकासमेति । अत्र हि खलु इन्द्रियोनिना ब्रह्मणा सह वर्तत इति सेन्द्रयोनिः ।
यः इन्द्रयोनिरित्युक्तः सोऽयमीश्वरो वेदयोनिरिति सर्वैर्गीयमानः परमेश्वरो
जाग्रति जागर्ति । य एवं स्वहृत्कमलासनमीश्वरमनुध्यायति स विद्वान् शुभा-
शुभातिरिक्तः सन् कादाचित्कप्रसक्तशुभाशुभैरपि कर्मभिः न लिप्यते ।
यद्वयायी शुभाशुभातिरिक्तः स देवः कीदृशः इत्यत्र “अन्यदेवस्य ब्रह्मादेरपि
य एष एव हि देवः तं देवतानां परमं च दैवतम्” इति श्रुतेः ध्यायिध्येययोर-
भेदार्थं य एष देवः सोऽयं संप्रसादः अन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः स
एव प्रणवार्थतुर्यतुर्यहंसः परं ब्रह्मेत्युच्यते । अत्र न प्राणहंसो मुख्यः प्राणो
विवक्षितः परब्रह्मप्रकरणत्वात् । प्रणवो जीवः प्रणवाद्यवयवाकारवाच्यत्वात्
तस्तिथितिराद्या देवतेति निवेदयति । य एवं प्रणवयाथात्म्यं वेद तत् कथं स
कथं जीवब्रह्मणोः भेदं निवेदयते निवेदयति किं तु जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति
जीवब्रह्मणोः भेदं कदापि न ददाति स्मरति वेत्यर्थः ॥ २ ॥

अन्तर्बाह्यशिखादिलक्षणम्

सत्त्वमथास्य पुरुषस्यान्तःशिखोपवीतित्वम् । ब्राह्मणस्य
मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतधारणम् । बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीत-
धारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवद-
व्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम् ॥ ३ ॥

अन्तर्बाह्यशिखायज्ञोपवीतलक्षणमुच्यते-- सत्त्वमिति । अथ प्रत्यगाभिन्न-
ब्रह्मभावान्तरमस्य पुरुषस्य ब्रह्मीभूतस्य यत् सत्त्वं तदेवान्तःशिखोपवीतत्वं
निर्विशेषज्ञानमित्यर्थः । तद्वारणं कस्य इत्यत्र स्वान्तर्विद्योतमानज्ञानशिखोपवीत-
धारणमकर्मिणो ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरेव । बाह्यशिखोपवीतधारणं कस्य इत्यत्र
बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । बाह्यवदान्तरं
व्यक्तं न भवतीत्याह--अन्तरिति । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवदव्यक्तं
व्यक्तं न भवति निर्विशेषब्रह्मज्ञानस्य मनोवागतीतत्वात् । यदि अन्तस्तत्त्वमेलनं
स्वाविद्याशबलब्रह्मगोचरं स्यात्तदा ॥ ३ ॥

निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्

न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम् ।

न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥ इति ॥ ४ ॥

तत्राविद्यांशमनेकोपपत्तिभिः मिथ्येति निरस्य निर्विशेषत्वमापादयेदित्याह--
न सदिति । यदविद्यास्वरूपं तन्न सत् कारणरूपेणाचाक्षुषत्वात् । तथा नासत्
कार्याकारेण चाक्षुषत्वात् । न सदसत् तयोरेकत्रानवस्थानात् । तत् किं स्वभिन्नं
स्वपृथक्सत्ताभावात् । तत् किं नाभिन्नं अवस्तुत्वात् । न च भिन्नाभिन्नं
दुर्लभत्वात् । न सभागं कारणात्मना निरवयवत्वात् । न निर्भागं कार्यात्मना
सावयवत्वात् । न चाप्युभयरूपकं पूर्वोक्तविरोधापत्तेः । एतावता अनिर्व-
चनीयत्वमस्योक्तं भवति । तथा चेदिदमपि ब्रह्मवत् सत्पदमर्हतीत्यत्र यावद्ब्रह्मात्मै-
कत्वज्ञानं नोदेति तावदस्य सत्त्वम् ; जाते तु ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽस्य मिथ्यात्व-
कारणात् ब्रह्मातिरिक्तं नेत्यपह्नवपदमेव भजेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कर्मणः चित्तशुद्धिप्रापकत्वम्

पञ्चपादब्रह्मणो न किञ्चन । चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीव-

ब्रह्मणः स्थानानि चत्वारि । नाभिहृदयकण्ठमूर्ध्निषु जाग्रत्स्वप्न-

सुषुप्तिर्यवस्थाः, आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु । जागरिते
 ब्रह्मां स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम् । तस्मा-
 च्चतुरवस्था चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य,
 तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य, ज्ञानपूतं त्रिगुण-
 स्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय, नवब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा,
 नवमानमितं त्रिः पुनस्त्रिगुणीकृत्य सूर्येन्द्रशिकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्य,
 आद्यन्तकत्वमपि मध्ये त्रिरावर्त्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधाय,
 आद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ब्रह्मावद्वैतग्रन्थि कृत्वा, नाभ्यादिब्रह्मबिल-
 प्रमाणं पृथक्पृथक्सप्तविंशतितत्त्वसंबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षण-
 लक्षितमप्येकत्वमापाद्य, वामांसादिदक्षिणकट्यन्तं विभाव्य, आद्यन्त-
 ग्रहसंमेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकम्, 'सत्यं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचार-
 म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', हंसेतिवर्णद्वयेनान्तः-
 शिखोपवीतित्वं निश्चित्य, ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानार्हत्वम्, यतित्वमलक्षि-
 तान्तःशिखोपवीतित्वम्, एवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थ-
 स्य, आभासब्राह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतोपवी-
 तित्वम् । चतुःचतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तुकृत्वम्, नव-
 तत्त्वमेकमेव परं ब्रह्म, तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्बहुमार्गवृत्तिं कल्पयन्ति ।
 सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका ब्रह्मैकमेव
 ब्राह्मणत्वमेकमेव । वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक्, शिखा व-
 र्णाश्रमिणामेकमेव, अपवर्गस्य यतेः शिखायज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेक-

मेव वदन्ति । हंसः शिखा, प्रणवमुपवीतम्, नादः संधानम् ।
एष धर्मो नेतरो धर्मः । तत्कथमिति । प्रणवो हंसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं
स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति । त्रिविधं ब्रह्म तद्विद्धि । प्रापञ्चिकशिखो-
पवीतं त्यजेत् ॥ ९ ॥

स्वातिरिक्ताविद्यारूपमस्ति नास्तीति भ्रान्तिः पञ्चपादब्रह्मणः तुर्यातीतस्य
न किञ्चनास्ति व्यष्टिसमष्ट्यात्मकचतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मण उपलब्धि-
स्थानानि चत्वारि भवन्ति व्यष्टिचतुष्पादन्तर्वर्तिनो विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाः
समष्टिचतुष्पादन्तर्वर्तिनस्तु विरादसूत्रबीजतुरीयाः तेषामुपलब्धिस्थानानि कानि
इत्यत्र नाभिहृदयकण्ठमूर्ध्निषु नेत्रकण्ठहृदयमूर्धस्वित्यर्थः । तत्र जाग्रत्स्वप्न-
सुषुप्तिपुर्यावस्थाः भवन्ति । तथाच श्रुतिः—

“नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।

सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ” ॥ इति ॥

किं च आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु च यथायोगमात्मा भाव-
यितव्य इत्यर्थः । जागरणादौ विभातः चैतन्यभेदमाह—जागरित इति ।
बाह्ययज्ञसूत्रब्रह्मसूत्रयोरैकत्वावगमाय । नोचेत् बाह्ययज्ञसूत्रं दृष्टान्तीकृत्य ब्रह्मसूत्रं
प्रपञ्चयति—तस्मादिति । यस्माद्यज्ञब्रह्मसूत्रयोः सामानाधिकरण्यं भवति सूत्र-
त्वाविशेषात् तस्मात् जाग्रदादिचतुरवस्थाचतुरङ्गुलवेष्टनमिव विभाव्य यथा
यज्ञसूत्रं चतुरङ्गुलमानेन षण्णवतिसंख्यातं तथा षण्णवतितत्त्वानि श्रोत्रा-
दीश्वरान्तानि । एवं यज्ञसूत्रं ब्रह्मसूत्रभावनाभावितं कर्मभिर्दि धृतं तदा तत् तं
कर्म चित्तशुद्धिप्रापकं भवेदित्यर्थः । ब्रह्मसूत्रप्रशंसनायास्य वाचारम्भणतामाह—
मूलमिति । यन्मृदादिवत् कारणं तत् सत्यं यत्तत्तदज्ञानविजृम्भितं कार्यं
तद्वाचारम्भणमृदतिरेकेण घटाद्यभावात् कारणं ब्रह्मैव सत्यमिति । हंसेति वर्ण-
द्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य हंसः सोऽहं इति भावनापूर्वकं सदा
तन्निष्ठत्वमन्तःशिखोपवीतित्वम् । तेन किं स्यात् इत्यत्र ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्या

नार्हत्वं यतित्वमलक्षितान्तःशिखोपवीतित्वं भवति । परिव्राडितरस्य तु एवमित्यादि । ब्रह्मसूत्रमेकमेव विश्वविराडोत्रादिभेदेन । चतुश्चतुर्गुणीकृत्येति । आद्यन्तयोर्निर्विशेषत्वेन मध्यमावस्थायामपि ब्रह्म निर्विशेषमेकमेवेत्यर्थः ।

“यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत्”

इति स्मृतेः । ब्रह्म निष्प्रतियोगिकमपि स्वाज्ञास्तदास्त्युपायं बहुधा कल्पयन्तीत्याह—तदिति । तस्य ब्रह्मणः स्वस्वबुद्ध्यनुरोधेन प्रतिसरणयोग्यत्वात् प्रतिसरणं कल्पनाधिकरणं तदवष्टभ्य तत्प्रापकोपायतया साङ्ख्यादि-बहुमार्गप्रवृत्तिं कल्पयन्ति तत्कल्पनामात्रमेव सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ज्ञानसमकालम् । तन्मात्रावस्थानलक्षणमुक्तिस्तु सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां निर्विशेषब्रह्ममात्रज्ञानं यदि जायते तदा तत्समकालीनविदेहमुक्तिरेका ब्रह्मैकमेव ब्रह्मनिष्ठाप्रभवब्राह्मणत्वमेकमेव । अपवर्गस्य अपवर्गभाजनस्य । हंसःशिखाप्रणवमुपवीतं विद्धि हंसप्रणवयोः नादः सन्धानम् । प्रणवः तुरीयोङ्कारः तदर्थः । “तुर्यातीतं ब्रह्म हंसः” इति मन्त्रार्थस्तु प्रत्यक्परैक्यसिद्धः परमात्मा नादलयाधारोऽपि स एव प्रणवो हंसो नादश्च एतत्तत्र त्रिवृत्सूत्रमित्युच्यते । तत् कुत्र आसनमर्हति इत्यत्र स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति स्वे महिम्नि स्वयं तिष्ठतीत्यर्थः । परापरभेदेन द्विविधं ब्रह्म तद्विद्धि । यदि स्वातिरिक्तभ्रमतो मोक्तुमिच्छति तदा मुमुक्षुः प्रापश्चिकशिखोपवीतं त्यजेत् ॥ ९ ॥

मुमुक्षुणा कर्तव्यानि

सशिखं वपनं कृत्वा वहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः ।

यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥

पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत् ।

सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम् ॥ ७ ॥

तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः ।
 स वेदवित्सदाचारी स विप्रः पङ्क्तिपावनः ॥ ८ ॥
 येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
 तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यतिः ॥ ९ ॥
 बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ज्ञानतत्परः ।
 ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् ।
 नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणम् ॥ १० ॥
 सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
 ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ११ ॥
 ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
 ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानभीरितम् ॥ १२ ॥
 अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
 स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १३ ॥
 कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा ।
 ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः ।
 ब्रजन्ते निरयं ते तु जन्म जन्मनि जन्मनि ॥ १४ ॥
 वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः ।
 अन्तर्गतप्रमारूढं तत्त्वतन्तुसमन्वितम् ।
 नाभ्यादिब्रह्मरन्धान्तं प्रमाणं धारयेत्सुधीः ॥ १५ ॥
 तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
 ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किञ्चन ॥ १६ ॥
 इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
 विद्वान्यज्ञोपवीती संधारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥ १७ ॥
 बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।
 एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ १८ ॥
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः ।
 बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत् ॥ १९ ॥
 बहिष्प्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्व-
 मवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवान्छौनकः ।
 इत्युपनिषत् ॥ २० ॥

सर्वापवादाधिकरणतया सूचनात् सूत्रमित्युक्तम् । शौनकः पिप्पलादमुखतो
 ब्रह्मतत्त्वमवगम्य स्वशिष्येभ्यः एवमाहेत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः परब्रह्मोप-
 निषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥ ६-२० ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 परब्रह्मोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।
 प्रकृतोपनिषद्व्याख्याग्रन्थस्त्रिशोत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अष्टसप्ततिसंख्यापूर्कं
 परब्रह्मोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः ॥

परिव्राजकलक्षणजिज्ञासा

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य
पप्रच्छ । भगवन् त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमव-
गतम् । इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि । कः
परिव्रजनाधिकारी कीदृशं परिव्राजकलक्षणं कः परमहंसः परिव्राज-
कत्वं कथं तत्सर्वं मे ब्रूहीति । स होवाच भगवानादिनारा-
यणः ॥ १ ॥

पारिव्राज्यधर्मवन्तो यज्ज्ञानाद्ब्रह्मतां ययुः ।

तद्ब्रह्मप्रणवैकार्यं तुर्यतुर्यं हरिं भजे ॥

इह खल्वथर्वणवेदप्रविभक्तेयं परमहंसपरिव्राजकोपनिषत् पारमहंस्यधर्म-
प्रतिपादनव्यग्रा ब्रह्मप्रणवार्थतुर्यतुर्यपदविश्रान्ता विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो
विवरणमारभ्यते । ब्रह्मनारायणप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था ।
पितामहो विश्वभूः नारायणो विश्वपालकः ताभ्यामाविर्भूतोऽर्थः कीदृशो
भवतीति आख्यायिकामवतारयति—अथेति । अथ ब्रह्मक्षत्रादिब्रह्मचारि-
गृहस्थादिधर्मश्रवणानन्तरं काश्यपादिनवप्रजापतयः सर्वलोकपितरः यस्तेषामपि

पिता स सर्वलोकपितामहः स्वपितरमादिनारायणं कार्यसत्त्वे स्वयमादि सर्वाभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात् वस्तुतो यत्र कार्यकारणकलना नास्त्यरमिति नारं कार्यकारणकलनासंभवप्रबोधसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणविदेहकैवल्यं तदेवायनं स्वरूपं यस्य सोऽयमादिनारायणः तं स्वाङ्गदृष्ट्या मूर्तिमदवस्थितम्

“अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्ध्यः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥”

इति स्मृतेः । तमुपसमेत्य दण्डवत् प्रणम्य पप्रच्छ । किमिति भगवन्निति । सर्वं यथावत् श्रुतम् । परमहंसपरिव्राजकलक्षणं यथावत् वेदितुमिच्छामि । तत्कृतप्रश्नमङ्गीकृत्य स होवाच भगवानादिनारायणः ॥ १ ॥

अधिकारिर्निरूपणम्

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिका-
मुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्न-
मिव हेयमुपगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवे-
द्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा
वनाद्वा । अथ पुनरब्रती वा ब्रती वा स्नातको वास्नातको
वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इति
सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं
कलत्रमासबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वानुमोदयित्वा तद्वैके
प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव
कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैधातवीयामेव
कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ
स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ।

ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्नि-
माजिघ्रेत् । यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै
सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य
प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । एष विधिर्वीराध्वाने वानाशके
वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । यद्यातुरः स्यान्मनसा
वाचा वा संन्यसेत् । एष पन्थाः ॥ २ ॥

तत्कृतप्रश्नेष्वादौ परिव्रजनाधिकारिणं निरूपयति—सदिति । न
कदापि संसारमण्डले सुखलेशोऽस्तीत्यवगम्य दाराद्येषणात्रयदेहादि-
वासनात्रयदारादौ शरीरे च रूढमूलं ममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव
हेयमुपगम्य स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य
गृही भवेत् । जाबालोपनिषद्युक्तार्थमेतत् । यदि सर्वसंसारेषु विरक्तो
भवति तदा ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा आदौ पित्राद्यनुमोदनं कृत्वा
संन्यसेदित्याह—पितरमिति । अनुमोदयित्वा प्रब्रजेदित्यर्थः । यदि
स्वयमाहिताग्निस्तदा चरमेष्ट्यादिकर्मसमाप्तिः कार्येत्यत्र—तद्वैक इति । तद्वैक
इत्यादि जाबालोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ २ ॥

निरामयस्य संन्यासः

स्वस्थः क्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वा,
अग्निमात्मन्यारोप्य, लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिं

च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा, ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा, सावित्री-प्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य, व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य, तत्सावधानेनापः प्राश्य, प्रणवेन शिखामुत्कृष्य, यज्ञोपवीतं छित्त्वा, वस्त्रमपि भूमौ वाप्सु वा विसृज्य, ओं भूः स्वाहा ओं भुवः स्वाहा ओं भुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपं ध्यायन्, पुनः पृथक्प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यम-तारध्वनिभिस्त्रिवारत्रिगुणीकृतप्रैषोच्चारणं कृत्वा, प्रणवैकध्यान-परायणः सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा, ब्रह्माह-मस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेज्जातरूपधरश्चरेत् । एष संन्यासः ॥

तदधिकारी न भवेद्यदि, गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य, सद्गुरुमुपगम्य नत्वा, गुरुमुखात्तत्त्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्य, अथ जीर्णवस्त्रवल्कलाजिनं धृत्वा, अथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य, त्रिकालस्नानमाचरन्, वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्, ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः,

स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा, निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः, कामक्रोधलोभ-
मोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहंकारासूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हि-
त्वा, ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषद-
र्थमालोच्य, ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो,
बहिरन्तःस्नेहवर्जितः, शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशास्तपतित-
वर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । सर्वेषु कालेषु
लाभालाभौ समौ भूत्वा, करपात्रमाधूकरेणान्नमश्वन्, मेदोवृद्धि-
मकुर्वन् कृशी भूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति भावयन्, गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य,
ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेत्, द्वावेवाचरेत् ॥

यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा
परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं
सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् । ग्रामैकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं
पट्टने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो
नियमानियममुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समौ
भूत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलकमण्डलुरवाधकरहस्यस्थलवासो
न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः
क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्री-
पुरपराङ्मुखोऽनुन्मतोऽप्युन्मतवदाचरन्नव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो दि-
वानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः
संन्यासेन देहत्यागं करोति परमहंसपरिव्राजको भवति ॥ ३ ॥

यदि निरामयः संन्यस्तुमिच्छति तदा नारदपरिव्राजकोपनिषच्चतुर्थो-
पदेशोक्तरीत्या सर्वमाचरेदित्याह—स्वस्थ इति । पुत्रे समारोप्य तदभावे
शिष्ये वा पुत्रादेः पित्रादिस्वत्वाधिकारत्वात् तदभावे स्वात्मन्येव वा
समारोपयेत् उपसंहरेदित्यर्थः । वेदमातरं क्रमात् भूरादिव्याहृतिषु त्रिषु
प्रविलाप्य । प्रणवपूर्वकं सलक्षणं सत्वचं समपर्वकं पुण्यस्थलसमुद्भूतं
नानाकल्मषशोभितं इत्यादिसंन्यासोपनिषदुक्तप्रकारेण वैणवं दण्डमित्यादि ।
अथ हस्ताभ्यां जलावतरणं संकल्पेन ऊर्ध्वगमनं मनोराज्यं एकभिक्षां
परित्यज्येति । ब्रह्म निष्प्रतियोगिकं ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति प्रबोध एव
ब्रह्ममार्गः तत्र संपन्नो भूत्वा परमसिद्धान्तमात्मन्येव गोपयित्वा स्वात्मनिष्ठो
भूत्वा कादाचित्कप्रसक्तकामक्रोधेत्यादि । ब्राह्मणप्रविभक्तचतुर्षु वर्णेषु
आभिषस्तपतितवर्जितेषु पशुः इव अद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय
भवति । “यो ब्रह्माणं निदधाति पूर्वम्” इति श्रुत्यनुरोधेन गुरुर्विष्णुः “नैवेद्यार्थं
महाविष्णोः स्वादु माधूकरं शुचि” इति स्मृत्यनुरोधेन गुरुर्वैश्वदेवः ग्राममुपेत्य
ध्रुवशीलः अचलस्वभावोऽपि अष्टौ मास्येकाकी चरेद्वावेवाचरेत् यदि
श्रवणध्यानाधिकारी न भवति तदा चातुर्मास्य एकत्रासनं शिष्टमासे ग्रामैकरात्रं
इत्याद्युक्तरीत्याटनं एतद्व्यमेव यतिमिराचरणीयमित्यर्थः । यदा कुटीचकाद्याश्रमे
अलंबुद्धिर्भवेत् । “पात्रे पतितमश्नीयात्तत्र किञ्चिन्न हि स्मरेत्” इति स्मृतेः ।
कृत्स्नेयमुपनिषत् नारदपरिव्राजकोपनिषद्ब्रह्माख्यानेन प्रायशो व्याख्यातेति
मन्तव्या ॥ ३ ॥

ब्रह्मप्रणवस्वरूपजिज्ञासा

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच
नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टय-
गोचरः । जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्ना-
दिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादि-

चतस्रोऽवस्था भवन्तीति । व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति । सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति । तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञः । एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः । अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रतैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्नतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः पुर्यां तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुर्यतुरीयः । जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम् । अयमेव ब्रह्मप्रणवः । स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः । तेनैव ब्रह्म प्रकाशते । विदेहमुक्तिः ॥ ४ ॥

ब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणेति प्रश्नबीजमवष्टभ्य ब्रह्मप्रणवेयत्तामवगन्तुं ब्रह्मणा पृष्ठः प्रश्नोत्तरं भगवानाहेत्याह—भगवन्निति । स होवाच नारायणः । किं तत् इत्यत्र—ब्रह्मप्रणव इति । तत् कथं इत्यत्र—जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः जाग्रजाग्रदित्यादि । स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्नजाग्रदित्यादि । सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तिजाग्रदित्यादि । तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति तुर्यजाग्रदित्यादि । व्यष्टिसमष्ट्यात्मकजाग्रजाग्रदादिषोडशावस्थासु व्यष्टिजाग्रजाग्रदादिषोडशावस्थारूढा विश्वविश्वदितुर्यप्राज्ञान्ताः

इत्याह—व्यष्टिजाग्रदवस्थायामिति । तथा व्यष्टिस्वप्नावस्थायामिति । तथा व्यष्टिसुषुप्त्यवस्थायामिति । तथा तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं इत्यत्र तुरीयविश्वः तुरीयतैजसः तुरीयप्राज्ञः इति त्रैविध्यं ज्ञेयम् । सविशेषनिर्विशेषावेकीकृत्य चातुर्विध्योक्तिः सविशेषप्रपञ्चापह्वसिद्धं निर्विशेषं तुर्यतुरीयमिति पृथक् ज्ञातुं युक्तत्वात् तथा समष्टिजाग्रजाग्रदादितुर्यस्वापान्त-पञ्चदशावस्थारूढा विराड्विराडादितुर्यबीजान्ताः तथा व्यष्टिसमष्ट्यैक्यसिद्धजाग्र-जाग्रदादिपञ्चदशावस्थारूढा ओत्रोत्राद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ताः जाग्रजाग्रदाद्य-विकल्पान्तविकल्पा यत्रापह्वं भजन्ति तदविकल्पाविकल्पं तुर्यतुरीयमिति ज्ञेयम् । एतदर्थस्य ब्रह्मप्रणवदीपिकायां सम्यक् प्रपञ्चितत्वात् उक्तविकल्पाः एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः तत् कथं इत्यत्र—अकारे जाग्रद्विश्व इत्यादि । जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं विद्वीति शेषः । तथा स्वप्नमात्राचतुष्टय-मुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशं जानीहीत्यर्थः । यत् एवमतो व्यष्टिसमष्टितदुभयैक्यसिद्धजाग्रजाग्रदादितुर्यस्वा-पान्तकलनारोपापवादाधारविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ताः प्रणवविकारा इत्यत्र “सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्” इति श्रुतेः । जाग्रजाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलना यत्रापह्वतां भजति यत्तदपह्वसिद्धं तुरीयतुरीयं तन्निष्प्रतियोगिकतया स्वमात्र-मवशिष्यते एवमर्थो यत्र अवगम्यते अयमेव ब्रह्मप्रणवः । स परमहंस-तुरीयातीतावधूतैरूपास्यः ब्रह्मप्रणवज्ञानेन मामित्यत्र तेनैव ब्रह्म स्वाव-शेषतया प्रकाशते यः प्रबोधो निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यमात्रगोचरः तेनैव ब्रह्ममात्रप्रबोधेन ब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणविदेहमुक्तिः भवतीति प्रकरणार्थः ॥ ४ ॥

अयज्ञोपवीतिनो ब्राह्मणत्वम्

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्म-निष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच विष्णुः । भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम् । तस्य

ध्याननिष्ठैव शिखा । तत्कर्म सपवित्रम् । स सर्वकर्मकृतस ब्राह्मणः
 स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषिः स तपस्वी स श्रेष्ठः स एव
 सर्वज्येष्ठः स एवाहं विद्धि । लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः ।
 यद्येकोऽस्ति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुषः । महापुरुषो
 यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । स एव
 नित्यतृप्तः स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः स निन्दामर्ष-
 सहिष्णुः स षड्भूमिवर्जितः षड्भावविकारशून्यः स ज्येष्ठान्येष्ठव्यव-
 धानरहितः स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा, आशाम्बरो न नमस्कारो
 न स्वाहाकारो न स्वधाकारश्च न विसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो
 न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोप-
 रतः सच्चिदानन्दाद्वयचिद्धनः संपूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्य-
 नवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स परमहंसपरि-
 ब्राडित्युपनिषत् ॥

ब्रह्मप्रणवस्य परमहंसाद्यधिकारत्वात् परमहंसादेः सर्वत्र ब्राह्मणत्वं
 श्रूयते यः संन्यासी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मणः इति प्रसिद्धिस्तु
 शिखायज्ञोपवीतविशिष्टकर्मठानामेव ब्राह्मणत्वमिति तद्विरलस्य यतेः कथं
 ब्राह्मण्यं इति ब्रह्मा भगवन्तं पृच्छतीत्याह—भगवन्निति । प्रश्नोत्तरं स
 होवाच विष्णुः । ईदृशो मद्भावापन्नो लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः ।
 स एव नित्यतृप्तः मद्भावापत्तेर्नित्यतृप्तिप्रापकत्वात् । स शीतोष्णसुखदुः-
 खमानावमानवर्जितः देहादावात्मात्मीयाभिमानवैकल्यात् स षड्भूमिवर्जितः
 अशनायाद्यतीतत्वात् । षड्भावविकारशून्यः भावषट्कास्पदस्थूलदेहवैकल्यात् ।
 स ज्येष्ठान्येष्ठव्यवधानरहितः “यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः”

इति श्रुतेः । स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा द्रष्टव्यान्यस्य मृग्यत्वात् ।
 विसर्जनीयाभावात् न विसर्जनपरः । न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यान-
 शून्यः मन्त्रतन्त्रदेवोपासनाभिः भवितव्यार्थाभावात् लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः
 लक्षणया बोधितं लक्ष्यं तद्विपरीतमलक्ष्यं वाच्यं स्वातिरेकेण तदुभयं नास्ति
 अहमेवेदं सर्वं इति निवर्तकः । ब्रह्मप्रणवार्थतुर्यतुर्यस्वमात्रमित्यनुसन्धानतो
 विद्वान् तुर्यतुर्यरूपेणावशिष्यते विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः
 प्रकृतोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ।

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

प्रकृतोपनिषद्ब्रह्माख्या लिखिता तुर्यतुर्यगा ।

प्रकृतोपनिषद्ब्रह्माख्याग्रन्थजातं शतं स्मृतम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षट्षष्टिसंख्यापूरकं
 परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

परमहंसोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः ॥

परमहंसपरिव्राजकानां मार्गः

ॐ । अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच । तं भगवानाह । योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्येवोपकारार्थाय च परिग्रहेत् । तच्च न मुख्योऽस्ति । को मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥ १ ॥

परमहंसोपनिषद्वेद्यापारसुखाकृति ।

त्रैपदश्रीरामतत्त्वं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

इह खलु परमहंसोपनिषदः शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्तत्वादीशावास्यादिव-
दुपोद्घातादिकं चिन्त्यम् । नारदभगवत्प्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था ।

योग्याधिकारिण उपलभ्य तेषां निःश्रेयसायाख्यायिकाकारेण प्रवृत्ता—अथेत्यादिना । अथ स्वकृतभक्तिश्रद्धातपोभिः भगवत्सान्निध्यानन्तरं देवर्षिरिति विख्यातो नारदो मुनिर्यत्र षड्गुणैश्वर्यसम्पत्तिः पर्यवसन्ना तं भगवन्तं विनयेनोपसमेत्यो-
वाच । किमिति योगिनां परमहंसपरिव्राजकानां मार्गः पन्थाः कोऽयं कीदृशः
तेषां स्थितिः कीदृशी इति नारदेन पृष्ठो भगवान् हरिः तं प्रत्येवमाह—तमिति ।
तमेवं पृष्ठवन्तं नारदं प्रति भगवान् हरिरेवमाह किं तदिति । यथोक्ताचारविशिष्ट-
कुटीचकबहूदकहंसानां मार्ग एव दुर्लभो लोके तावत्ततोऽपि परमहंसमार्गो
दुर्लभतरः । दुर्लभतरार्थं श्रुतिः स्वयमेवाह—न तु बाहुल्य इति । यदि
कदाचित् एतादृश एको भवति तदा स एव परमहंसः । नित्यपूते विशुद्धात्मनि
स्वे महिम्नि तिष्ठतीति नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुषो वेदार्थः परमात्मेति
विदुषो ब्रह्मविद्वरीयांसो मन्यन्ते । अत एव परमहंसो महापुरुषो भवति यस्य
महापुरुषस्य चित्तं मय्येव नारायणे तदाकाराकारितयाऽवतिष्ठते यस्मादेवं
तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते । परमात्मनि प्रत्यक्प्रतीचि परमात्मेति
प्रत्यगभेदेनासाववस्थितः सन् स्वीयतया भातपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीन् बहि-
र्लक्ष्यमाणशिखां यज्ञोपवीतं च स्वाधीतस्वाध्यायवेदजातं च तद्विहित-
सर्वकर्माण्ययं संन्यस्य स्वाज्ञदशायां स्वावासधिया यद्भातं तच्चतुर्दशभुवनालंकृत-
ब्रह्माण्डं च स्वातिरिक्तधिया हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं नित्यकर्मोपयोगि-
भिक्षाचारादिवस्त्राणि च परिग्रहेत् किमर्थं तत्परिग्रहः इत्यत्र स्वशरीरोपभोगार्थाय
भोगार्थं शीतमशकादिनिवृत्त्यर्थं लोकस्यैवोपकारार्थाय च लोकोन्मार्गनिरासनाय
कौपीनादिकं परिग्रहेदित्यर्थः । कौपीनादिपरिग्रह एवास्य मुख्यः इत्यत आह—
तच्च न मुख्योऽस्तीति । कौपीनादिपरिग्रहो न हि परमहंसानां मुख्योऽस्ति ।
तर्हि तेषां कोऽयं मुख्यः इति चेत् कौपीनादित्याग एव मुख्यः इत्याह—अयं
मुख्य इति ॥ १ ॥

परमहंसपरिव्राजकानां स्थितिः

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो
न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमानं इति । षड्भूमि-

वर्जितो निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोह-
हर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते, यतस्तद्वपुर-
पध्वस्तसंशयमिध्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्य-
बोधस्तत्स्वयमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्दचिद्घन एवास्मि,
तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवोपवीतं च, परमात्मात्मनो-
रेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या ॥ २ ॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः ।

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वांशी ज्ञानवर्जितः ।

तितिक्षा ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥

स याति नरकान्घोरात्महारौरवसंज्ञकान् ॥

इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥ ३ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न
निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्विक्षोः नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं
न ध्यानं नोपासनं च । न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहर्न
सर्वं च अनिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुस्सौवर्णादीनां नैव परि-
ग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव ।
यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् । यस्माद्भिक्षु-
र्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत् स पौलकसो भवेत् । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं
रसेन ग्राह्यं चेत् स आत्महा भवेत् । तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन

न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामाः मनोगता व्यावर्तन्ते ।
 दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहः त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरन-
 भिक्षेहो न द्वेष्टि न मोदं च । सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य
 आत्मन्येवावस्थीयते । तत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृत-
 कृत्यो भवति । कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

न हि गार्हस्थ्योचितदण्डशिखायज्ञोपवीताच्छादनं परिगृह्य परमहंसः
 चरति न हि तस्य शीतोष्णमानावमानकलनाऽस्ति सेयं कलना देहनिष्ठा
 परमहंसस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावारूढत्वेन देहत्रयोपलक्षितस्वविद्यापदतत्कार्यविलक्षण-
 त्वात् अत एव षड्भूमिर्वर्जितः अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षड्भूमय-
 तद्रहितः परं निन्दागर्वः स्मयः धनविद्यादिविषयः ह्यर्पितदृढक्रोधो मत्सरः
 दम्भो धर्मध्वजित्वं दर्पः स्वान्यत्रालक्ष्यबुद्धिः लब्धव्यविषयस्पृहा इच्छा
 स्वाहितकारिणी द्वेषः इष्टविषयजं सुखं अनिष्टविषयजं दुःखं इष्टवस्त्वभिलाषः
 कामः तत्कुण्ठनकारिणी क्रोधः स्वद्रव्यत्यागानिच्छा लोभः अतस्मिंस्तद्बुद्धिः
 मोहः स्वेषविषयागमजो हर्षः परश्रेयोऽसहिष्णुता असूया उद्धतवृत्तिरहंकारः
 आदिशब्देन स्वीयेषु ममकारादिः गृह्यते एतत्सर्वं स्वातिरिक्तधिया हित्वा यः
 स्वमात्रावस्थितिमीहते तद्दृष्ट्या स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतो यस्मात्
 ब्रह्मज्ञानात् अपध्वस्तसंशयमिथ्याज्ञानानां स्ववपुरेवं दृश्यते तादृशब्रह्म-
 विषयकज्ञानस्याविर्भावाय यो हेतुः प्रत्यक्त्वेन प्रतीचा प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावेन
 नित्यनिवृत्तस्वाज्ञानो यत् स्वाज्ञाननिवृत्त्यधिकरणं तन्नित्यबोधः परमात्माऽयं
 नित्यबोधस्वरूपं तत् स्वयमेवावस्थितिः स्वमात्रावशेषतया स्थितिः मुक्तियौ
 मुक्त इत्यभिहितः तं स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यशान्तनिष्प्रतियोगिकपूर्णत्वात्
 अचलं आत्मानं अद्वयानन्दचिद्धन एवास्मीति ज्ञात्वा यत् ज्ञानसमकालं
 स्वमात्रमवशिष्यते तदेव मम परमं धामस्वरूपं तदेव शिखा तदेवोपवीतं च
 केशकार्पासशिखातन्तुवच्छरीरविलक्षणत्वात् तस्य का सन्ध्या इत्यत आह—
 परमात्मेति । परमात्मात्मनोः प्रत्यक्परचितोः ब्रह्मैवाहं अहमेव ब्रह्म इत्येकत्व-

ज्ञानेन तयोर्भेद एव विभक्तः तत्त्वभेदः तस्य स्वरूपत्वात् या जीव-
ब्रह्मैक्यस्थितिः सैव सन्ध्या—

“नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु ।

सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्विरुच्यते ॥”

इति स्मृतेः । इत्थं स्वातिरिक्तसर्वान् कामान् परित्यज्य अपह्वं कृत्वा परमाद्वैते
स्थितिस्तद्रूपेणावस्थानं ज्ञानदण्डः स्वात्ममात्रावशेषतया येन धृतो भवति
स ह्येकदण्डी इत्युच्यते एवं पारमार्थिकसंन्यासिनं स्तुत्वा आभाससंन्यासिनं
दूषयति—काष्ठदण्ड इति । ज्ञानगन्धवैकल्येन येन काष्ठदण्डो धृतः स हि
सर्वांशी केवलोदरंभरी निर्विशेषज्ञानवर्जितो भवति किं च शीतोष्णादितितिक्षा-
पुरस्सरं सविशेषज्ञानतदितरविषयवैराग्यशमादिगुणवर्जितः स्वान्तर्बह्यव्यापृतिः
सन् केवलभिक्षामात्रेण यो जीवेत् सोऽयं पापी पापकृत्तमो भूत्वा
सदृत्तयतीनामपि वृत्तिहा भवेत् सत्संन्यासिनोऽपि लोकाः संन्यास्याभासान्
मत्वा दृष्ट्वा उपेक्षां कुर्युः तद्वेषेणायमाभासयतिः महारौरवसंज्ञकान् नरकान्
याति इदं पारमार्थिकाभाससंन्यासिनोरन्तरं ज्ञात्वा आशाम्बरो दिगम्बरः
न नमस्कारः ज्येष्ठकनिष्ठकलनावैरल्यात् न स्वाहाकारो न स्वधाकारो
देवपैत्र्यकर्मसामान्यस्य त्यक्तत्वात् न निन्दास्तुतिः निन्दनीयस्तुत्यगुणवैरल्यात्
यादृच्छिको भवेत् देहधारणमात्रेतरप्रवृत्तिशून्यो भवेत् हि यादृच्छिकः इत्यत्र
यथेच्छाचरणं विधीयते यथेच्छाचरणस्य इच्छापूर्वकत्वेन पतनमेव स्यादित्यत्र
ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिः “तदाचारव-
शात्तत्तल्लोकप्राप्तिः” इति श्रुतेः । एवं देहमात्रधारणेतरप्रवृत्तिनिवृत्तिशून्यस्य भिक्षोः
न हि स्वान्यत्रावाहनं विसर्जनं मन्त्रध्यानं उपासनं लक्ष्यमलक्ष्यादिकं वा
अस्तीत्याह—भिक्षोरिति । उक्तविशेषणविशिष्टस्य भिक्षोः न हि पृथक्त्वेन
अपृथक्त्वेन वा त्वमहं तच्छब्दगोचरं सर्वं स्वातिरिक्तं वस्त्वस्ति यदि व्यावहारि-
कत्वेन प्राप्तिभासिकत्वेनास्तीति भ्रान्तिस्तदा अनिकेतस्थिरमतिः व्याविद्धात्मी-
यनिकेतनाभिमतिः स्वदेहे तदन्यत्र वा अहंकारममकारविरल एव भूत्वा यो वर्तते
स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत् न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः

कः इति चेत् सुवर्णादिपरिग्रहनिमित्ताभावात्तन्निमित्तमस्तीति स्वीकृत्य न हि सुवर्णाद्यालोकनं वा न हि कदाऽपि कुर्यात् एवं कृते बाधकः कः इति चेत् बाधकोऽस्त्येव तत् कथं यस्मादुपभोगनिमित्तात् भिक्षुः भिक्षुणा हिरण्यं कनकरत्नादिरसेन प्रेम्णा दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् यस्मादित्यादि समानं यदि तद्रसेन स्पृष्टं तदाऽयं पौलकसश्चर्मकारो भवेत् यदि ग्राह्यं गृहीतं तदा सोऽयमात्महा भवेत् तस्मात् भिक्षुः हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च रसेन सुवर्णरत्नादिदर्शनं स्पर्शनं ग्रहणं वा न कदापि कुर्यात् पथिगततृणवद्रागं विना दर्शनं न दोषाय भवति स्पर्शनग्रहणयोः सद्यतेरप्रसक्तत्वात् “मा गृधः कस्य स्विद्धनम्” इति श्रुत्यनुरोधेन सुवर्णाद्यनिच्छोः परमहंसस्य स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तमनोगताः मनसि विकल्पिताः सर्वे कामाः स्वज्ञदृष्ट्या व्यावर्तन्ते मिथ्यात्मतया निवर्तन्ते यत एवमतः परमहंसः दुःखप्रारब्धोदयेऽपि नोद्विग्नो भवति तथा सुखप्रारब्धोदयेऽपि तत्र निःस्पृहो भवति रागद्वेषप्रसङ्गेऽपि तत्त्यागो भवति सर्वत्र स्वातिरिक्तनिवृत्तिमार्गः शुभं प्रवृत्तिमार्गोऽशुभं तयोरनभिस्नेहः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गपराङ्मुखः प्रवृत्तिमार्गे न द्वेष्टि निवृत्तिमार्गे न मोदं चानुभवति सर्वेषां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां च शब्दादन्तःकरणस्य च गति-स्तत्तद्विषयग्रहणशक्तिर्यत्रात्मन्येवोपरमते स्वात्ममात्रावशेषतया अवस्थीयते तदधि-करणत्वेन योऽवशिष्यते सोऽयं तत्पूर्णानन्दैकबोधः “कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते” इति श्रुतेः । यत्पूर्णबोधत्वेनावशिष्टं तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति तद्ब्रह्म स्वमात्रमिति ज्ञानसमकालं कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवति । आवृत्तिः आदरार्था । इत्युपनिषदिति प्रकृतोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

परमहंसोपनिषद्वाख्येयं लिखिता स्फुटम् ।

परमहंसोपनिषद्वाख्याग्रन्थः शतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनविंशतिसङ्ख्यापूरकं

परमहंसोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

ब्रह्मोपनिषत्

सह नावतु—इति शान्तिः

चतुष्पाद्ब्रह्म

¹ अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभि-
हृदयं कण्ठं मूर्धा च । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते
ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम् । स आदित्यो
विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥१॥

¹ ऋग्वेदसहाशयमुद्रितसंन्यासोपनिषत्कोशे इदमधिकं दृश्यते उपक्रमे—“ शौनको ह
वै महाशालोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं पप्रच्छ । दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति ।
कथं सृजन्ति । कस्येषं महिमा बभूव । यो ह्येष महिमा बभूव क एषः । तस्मै स
होवाच ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम् । प्राणो ह्येष आत्मा । आत्मनो महिमा बभूव । देवानामायुः
स, देवानां निधनमनिधनं, दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं यद्ब्रह्म विभाति । स
नियच्छति मधुकरराज[मक्षिकावत् । यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्राम-
न्ते तथैवैनमुत्क्रामन्तं ते सर्वे देवा अनूत्क्रामन्ते । स सृजत्याकर्षति] माक्षीकवत् ।
यथा माक्षीकैकेन तन्तुना जालं विक्षिपति तेनापकर्षति तथैवैष प्राणो यदायाति संसृष्टमा-
कृष्य । प्राणदेवतास्ताः सर्वा नाड्यः सुष्वपे श्येनाकाशवत् । यथा खं श्येन आश्रित्य याति
स्वमालयमेवं सुषुप्तभूते । यथैवैष देवदत्तो यद्यथापि ताड्यमानो न वेत्येवमिष्टापूर्तैः शुभाशुभैर्न
लिप्यते । यथा कुमारो निष्काम आनन्दमुपयाति तथैवैष देवदत्तः स्वप्न आनन्दमभियाति ।
वेद एष परं ज्योतिः । ज्योतिष्कामो ज्योतिरानन्दयते । भूयस्तेनैव स्वप्नाय गच्छति

यद्ब्रह्मोपनिषद्व्यक्तविस्फुलिङ्गि^१ हृदुज्ज्वलम् ।
त्रैपदानन्दसाम्राज्यं कलये तत् स्वमात्रतः ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदान्तर्गतब्रह्मशाखायां यत्काण्डत्रयं प्रकाशितं तत्र सकामस्य केवलकर्मकाण्डानुष्ठानतो धूमादिमार्गेण पुनराप्तिमच्चन्द्रलोकाप्तिरभिहिता निष्कामस्य तु कर्मोपासनाकाण्डार्थसमुच्चयानुष्ठानादर्चिरादिमार्गेणापुनरावृत्तिमद्ब्रह्मलोकाप्तिस्तत्र तन्मुखासादितब्रह्मज्ञानतस्तत्रत्योपाधिप्रलयसमकालं तेन सह तद्भावापत्तिः केषां चित्तशुद्ध्याधिक्यान्मार्गद्वयेऽपि विरक्तिर्जायते तेषां ज्ञातिनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावगतये ज्ञानकाण्डात्मिकेयं ब्रह्मोपनिषत् प्रवृत्ता उपनिषद्वर्कस्य^२ षड्लघातोरथानुगमात् मुमुक्षोः स्वाज्ञानविशरणपूर्वकं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रगमकत्वादिति ब्रह्मविद्योपनिषत् । तादर्थ्येन ग्रन्थोऽप्युपनिषत् । एवमुक्तलक्षणब्रह्मोपनिषदोऽल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते—अथेति । अथ यथोक्तब्रह्मविद्यासाधनसंपत्त्यनन्तरं मुमुक्षोः स्वातिरिक्ताखट्बुद्धित्वेन निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रोपदेशानर्हत्वात् तन्मात्रबुद्ध्यारोहाय सोपायब्रह्मविद्या वक्तव्येति परमदयावती श्रुतिः यतः प्रवृत्ता अतो ब्रह्मोपलब्धिस्थानकल्पना युज्यते यः “पूर्णमेवावशिष्यते” इति, “पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः” इति च श्रुतिसिद्धः पुरुषोऽवशिष्यते तस्यास्य पुरुषस्य परमात्मन उपलब्धिस्थानानि चत्वारि भवन्ति तानि कानि किं देशान्तरे वर्तन्ते इत्याकांक्षायां स्वशरीरे तानि वर्तन्ते इत्याह—नाभिरिति । चकारादक्षिणाक्ष्यादिस्थानान्तरमस्तीति द्योत्यते । तत्र कीदृशं ब्रह्म इत्यत आह—तत्र चतुष्पादं ब्रह्म

जलौकावत् । यथा जलौकाग्रमग्रं नयत्यात्मानम्, नयति परम्, संधयत्यपरम्, नापरं त्यजति स जाग्रदभिधीयते । यथैवैष कपालाष्टकं संनयति । य एष स्तन इवावलम्बत एष देवयोनिर्गत्र जाग्रति शुभाशुभमनिरुक्तमस्य देवस्य स संप्रसादोऽन्तर्यामी खगः कर्कटकः पुष्करः पुरुषः प्राणो हंसः परापरं ब्रह्मात्मा देवता वेदयति । य एवं वेद स परं ब्रह्मयाम क्षेत्रज्ञमुपैति ” ।

^१ उ १. ‘विष्णुलिङ्गि’

^२ उ, उ १. ‘सद्भातोः’

विभातीति । चतुःस्थानाश्रयत्वाच्चतुष्पात् वस्तुतः तत्परिच्छेदशून्यं ब्रह्म विभातीत्यर्थः । स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तचतुष्पाद्ब्रह्म कीदृशं इत्यत आह—जागरित इति । यदा बाह्येन्द्रियैः तदर्थोपलब्धिः जाग्रत् तत्र जागरिते ब्रह्मा नाभिः मण्डलमधिष्ठाय जाग्रत्कलनां कलयति स हि जगत्स्रष्टा चतुराननः यदा जाग्रत्प्रत्ययजस्वप्नो दृश्यते तदा विष्णुर्हृदयमधिष्ठाय स्वप्ने तत्कलनाकलितो भवति यदा जाग्रदादिव्यापृतिः विलीयते तदा स सुषुप्तिर्भवति तदानीं रुद्रः कण्ठमधिष्ठाय स्वाज्ञविकल्पितजाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चमुपसंहरति जाग्रदाद्यवस्थात्रयं यत्र विलीयते सेयं तुरीयावस्था तदानीं मूर्धानमधिष्ठाय यज्जाग्रदादिकलनाभावाभावप्रकाशकं भवति तन्मूर्ध्नि संस्थितं तुरीयमुच्यते यद्यपि नेत्रकण्ठहृदयमूर्धसु जागरितादीनि वक्ष्यति तथाप्यत्र नाभ्यादीनामुक्तत्वादुपलब्ध्यर्थमेवं चिन्तनीयम् । यद्वा नाभ्यादियथाक्रममुत्सृज्य नाभिनेत्रे समुच्चित्य जागरितजागरितं चिन्त्यं स्वप्नस्थानं कण्ठं सुषुप्तिस्थानं हृदयं पूर्ववत् मूर्ध्नि संस्थितं तुरीयं यो मूर्धानमधिष्ठाय तुर्यात्मा भवति तस्मात् आदित्यादिः भिन्न इत्यत आह—स आदित्य इति । तदतिरेकेणादित्यादेरभावात् चकारात् तदतिरेकेण न किञ्चिदप्यस्तीति द्योत्यते तद्याथात्म्यं किं इत्यत आह—स्वयमिति ॥ १ ॥

परस्य ब्रह्मणः अक्षरत्वम्

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा
माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः
पौलकसो न पौलकसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस एकमेव
तत् परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्^१ ॥ २ ॥

स्वस्य स्वातिरिक्तमन आद्यन्तःकरणश्रोत्रादिबाह्यकरणजातासंभवस्वमात्र-
प्रबोधविदितत्वात् यदेतदमनस्कादिलक्षणमक्षरं तत्र स्वातिरेकेण लोकादिताप-

^१ ब्रेडरमहाशयमुद्रितसंन्यासोपनिषत्कोशे इदमधिकं दृश्यते—“ह्याकाशे तद्विज्ञान-
माकाशम् । तत्सुषिरमाकाशम् । तद्विद्याद्वयाकाशे यस्मिन्निदं सं च वि चरति यस्मिन्निदं
सर्वमोतप्रोतम् । स विभुः प्रजासु ध्यानेन यो वेद तत्परं ब्रह्म भवतीति निर्वाणम् ।

सान्तकलना न संभवति तन्निर्वाणरूपेण स्वमात्रमवशिष्यत इत्याह—यत्रेति ।
लोकादितापसान्तकलना अस्ति नास्तीति विभ्रमासंभवे हेतुमाह—एकमिति ।
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमेकमेव परं ब्रह्म विकलेबरनिर्वाणरूपेण विभाति स्वाज्ञादि-
दृष्टिमोहे सति । असति कैवल्यमेकरूपेण चकास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

निर्वाणस्य एकत्वम्

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति ॥ ३ ॥

कथं निर्वाणमेकं निष्प्रतियोगिकं तन्नियन्तृत्वेन देवादेः सत्त्वात् इत्यत
आह—न तत्रेति । यत् स्वमात्रमवशिष्टं न हि तत्र देवर्षिपितरः सन्ति
तन्मात्रावस्थायां स्वयमलब्धात्मानो नियन्तृनियम्यतया स्थातुं कथमीशते समर्था
भवन्ति किन्त्वेक एवात्मा देवर्षिपित्रादिकलनाविरलं ब्रह्म स्वमात्रमिति प्रतिबुद्धः
देवर्षिपित्रादिभिरपि ब्रह्मास्मीत्येव प्रतिबुद्धो भवति न हि भेददृष्ट्येत्यर्थः ।
यद्यत् स्वाज्ञाविकल्पितं तत्तत् अहमेवेदं सर्वं इति श्रुतिसिद्धा या सा सर्वविद्या
तया स्वविकल्पितसर्वासंभवप्रबोधरूपया स्वमात्रमिति लब्धुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

त्रिवृत्सूत्रम्

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।

हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः ॥

हृदि चैतन्ये तिष्ठति ॥ ४ ॥

ब्रह्ममात्रप्रबोधसहकारित्वेन संन्यासविधित्सया भूमिकां करोति—
हृदिस्था देवता इति । स्वातिरिक्तं स्वमात्रतया हरतीति हृच्छब्देन प्रत्यक्चैतन्य-
मुच्यते तस्मिन् हृदि तदधिष्ठेयहृदयकमले वा अग्न्याद्याः सर्वा देवताः
प्रतिष्ठिताः । तथा हृदि प्राणापानादिभेदेन प्राणाः पञ्च वागादयश्च विधात्रा
प्रतिष्ठिताः तथोक्तलक्षणहृदये नासापुटसंचारी प्राणश्च स्वयंज्योतिरात्मा च

चकारद्वयतो यद्यस्ति नास्तीति विकल्पितं तत्सर्वं हृदये प्रतिष्ठितमिति द्योत्यते बहिःसूत्रत्यागिनस्तदेतत्त्रिवृत्सूत्रमिति विदुः जानन्ति बहिःसूत्रं क प्रतिष्ठितं इत्यत आह—हृदीति । सर्वस्यापि हृदयप्रतिष्ठितत्वात् ॥ ४ ॥

बहिःसूत्रम्

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ ५ ॥

कीदृशं बहिःसूत्रं इत्यत आह—यज्ञोपवीतमिति । यज्ञस्य विष्णोरुप-
सामीप्येन वीतं विशेषेणागतं जीवस्वरूपं यज्ञोपवीतं स्वगतजीवतापाये
तदेव परममुत्कृष्टं अत एव पवित्रं प्रजापतेः यद्व्यवहारकारणं सहजं यद्वा
देहेन्द्रियादिवत् सहजं पुरस्तात् पूर्वमायुष्यं अग्र्यं श्रेष्ठं स्वात्मानं विदित्वा
स्वान्यत्र मतिं प्रतिमुञ्च यच्छुभ्रं ज्योतिष्मद्यज्ञोपवीतं तदवलम्ब्य बाह्ययज्ञोपवीतं
प्रतिमुञ्चेति वार्थः । यस्मादेतद्धृदि चैतन्ये तिष्ठति तस्मात् इदं यज्ञोपवीतं
त्रिवृत्कार्पासजं त्रैवर्णिकैः धार्यं तत्कार्पाससूत्रं बलं वीर्यवत् कर्मकारणमस्तु तेजो
ब्रह्मवर्चसादिवृद्धिकरं भूयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ब्रह्मसूत्रम्

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः ।

यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥ ६ ॥

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।

तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥ ७ ॥

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।

तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥ ८ ॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः ।

ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।

धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥ ९ ॥

त्रैवर्णिकानां श्रौतस्मार्तकर्मसाधनतया प्रतिपद्याथ परिव्राजकानां बहिर्यज्ञोप-
वीतादित्यागपूर्वकं मुख्यशिखायज्ञोपवीतं धार्यमित्याह—सशिखमिति । शिखासहित-
केशश्मश्र्वादिवपनं कृत्वा यत् बहिः त्रिवृत्सूत्रं कर्माङ्गभूतं नित्यादिसाधनसंपन्नो
बुधः बहिःशिखासूत्रोपलक्षणस्वातिरिक्तास्तिताबुद्धिं त्यजेत् ततः किं इत्यत
आह—यदिति । यत् स्वातिरिक्तक्षरप्रपञ्चापह्वसिद्धमक्षरं परं निरुपमोत्कृष्टं
स्वावशेषतया बृंहणात् ब्रह्म तत् स्वमात्रमिति धारयेत् किं तत् कथं धार्यं
तद्वारणफलं कीदृशं इत्यत आह—सूचनादिति । “सन्मात्रमसदन्यत्”, “ब्रह्म-
मात्रमसन्न हि” इत्यादिश्रुतिभिः सूचनात् स्वातिरिक्तग्रासं ब्रह्मैव सूत्रमिति
ब्रह्मविद आहुः । सूत्रं नाम किं इत्यत आह—परं पदमिति परं निरतिशयं
तद्रूपेण पद्यत इति पदं ब्रह्ममात्रमित्यर्थः । तदेतत् सूत्रं येन स्वमात्रतया विदितं
स विप्रो ब्रह्मविद्वरीयान् स्वारोपितातदपह्ववमुखेन वेदा यत्र पर्यवस्यन्ति तद्वेद
परं ब्रह्ममात्रं गतो भवति । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । कथं एतादृशं पदं मन्दबुद्धिगम्यं
भवतीत्याशंक्य तत्पदारोहोपायत्वेन सूत्रस्वरूपमाचष्टे—येनेति । स्वातिरिक्त-
जगदारोपाधिकरणतया यत् सूत्रितं सूत्रे मणिगणवत् येनेदं सर्वं अविद्यापद-
तत्कार्यजातं प्रोक्तमनुविद्धं तदेतत्सूत्रमीश्वरचैतन्यं तत्तत्त्वं सर्वापवादाधिकरणं
निरधिकरणं वा दर्शितवान् योगवित् तदेवास्मीति धारयेत् कथं पुनरेवं
धार्यं इत्यत्र तद्व्रतहेयांशत्यागपूर्वकं शिष्टांशं धार्यमित्याह—बहिरिति । यश्चेतनो
विद्वान् बहिःसूत्रशिखोपलक्षितस्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं त्यजेत् ततोऽयं
योगी एवं त्यागशिष्टं ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेत् सोऽयमेवं धारयिता
ब्रह्ममात्रयोगमास्थितो भवतीत्यर्थः । एवंविदोऽप्युच्छिष्टादिविशिष्टोपाधियोगात्त-
थात्वं स्यादित्याशङ्क्य सूत्रभावापन्नस्योपाधियोगतत्कार्योच्छिष्टादिवैरत्यमाह—

धारणादिति । नवद्वारप्रवेशनिर्गमाभ्यामुच्छिष्टः अस्पर्शसंयोगादशुचिः तद्धे-
तूपाध्ययोगात् उच्छिष्टादिः न ह्यस्तीत्यर्थः ॥ ६-९ ॥

ज्ञानशिखादीनां मुख्यब्राह्मण्यलिङ्गता

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ १० ॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।

ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ११ ॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।

स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १२ ॥

शिखायज्ञोपवीताभावे ब्राह्मण्याभावमाशङ्क्य ज्ञानशिखोपवीतसत्त्वान्मुख्य-
ब्राह्मणत्वं स्यादित्याह—सूत्रमिति । स्वातिरिक्तकलनारहितं सूत्रं ब्रह्मास्मीति
येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनां नैष्कर्म्यपदमारूढानां सूत्रमन्तर्गतमिव विभाति लोके
ते वै सूत्रयाथात्म्यविदः ते च यज्ञोपवीतिनः अत एवैते परिव्राजकाः
ज्ञानशिखिनो ज्ञानोपवीतिनः सूत्रज्ञाननिष्ठाश्च सूत्रज्ञानं हि तेषां
पवित्रमुच्यते अत एव तेषामुच्छिष्टाशुचिनस्त इत्युक्तम् । यस्याग्निशिखेव
ज्ञानमयी शिखा विद्यते सोऽयं विद्वान् शिखीत्युच्यते नेतरे केशधारिणः
शिखिनो भवन्ति ॥ १०-१२ ॥

क्रियाङ्गसूत्रम्

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।

तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥ १३ ॥

एवं चेत् सर्वैरपि शिखायज्ञोपवीतादिकं परित्याज्यमित्यत आह—
कर्मणीति । स्वाज्ञानपुरस्सरमिदं मया कर्तव्यमिति ये तु त्रैवर्णिका ब्राह्मणादयो

वैदिके कर्मण्यधिकृताः तेभिस्तैरेव कार्पासतन्तुनिर्मितमिदं यज्ञोपवीतं क्रियाङ्गं इति धार्यम् । तथाच श्रुतिः—“यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद्यजेत वा यज्ञस्य” इति त्रैवर्णिकानां क्रियाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतं स्मृतम् । हिशब्दः प्रसिद्धोक्तकः ॥ १३ ॥

निरुपचरितब्राह्मण्यम्

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

त्रैवर्णिकेषु निरुपचरितब्राह्मण्यं कस्येत्यत आह—शिखाज्ञानमयीति । त्रैवर्णिकेषु ब्राह्मणजातैरेव पारिव्राज्यविधानात् तत्र यस्य ब्राह्मणजातिजस्य शिखा ज्ञानमयी उपवीतं च तन्मयं ज्ञानमयं भवति तस्य सकलं निरुपचरितं ब्राह्मण्यमिति ब्रह्मविदो विदुः जानन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीतयाथात्म्यम्

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यन्परायणम् ।

स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्विनं विदुः ॥ १५ ॥

एतादृशब्राह्मण्यापादकयज्ञोपवीतयाथात्म्यं किं इत्यत आह—इदमिति । इदं यज्ञोपवीतं विष्णुपदप्रापकं ज्ञानं क्रियाकारकादिकलनोपमर्दकत्वेन परमं यदेतत् ज्ञानं ब्रह्ममात्रपरायणं स्वगतहेयांशापायतः तन्मात्रतयाऽवशेषितं भवति यो वा इदमहमस्मीति विद्वान् स हि यज्ञोपवीती ब्रह्ममात्रवित् स्यात् ज्योतिष्टोमादियज्ञोऽपि स एव स्यात् य एवंवित् त ब्रह्मीभूतं वेदविदो यज्विनमग्निहोत्रिणं विदुः स एवाग्निहोत्री नान्यः इत्यत्र—

“प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः ।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ॥”

इति श्रुतेः । स्वातिरिक्तं स्वात्माग्नौ हुत्वा विद्वान् स्वयमेवावशिष्यत
इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ब्रह्मीभूतो विद्वान् एक एव

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १६ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १७ ॥

किमयं ब्रह्मीभूतो विद्वान् अनेकः इत्यत आह—एक इति । अयं ब्रह्मीभूतो
मुनिः एक एव निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावापन्नत्वात् । स कीदृशः इत्यत आह—
देव इति । स्वयंप्रकाशचिद्भावात् प्रकाशमात्रः किं न दृश्यते इत्यत आह—
सर्वभूतेषु गूढः इति । स्वज्ञप्रत्यगभेदेन भासमानोऽपि स्वाज्ञदृष्टिविकल्पित-
सर्वभूतेषु चतुर्विधेषु स्वावृत्तित्रयावृत्तदृष्टीनामभानात् गूढः । एवं चेत् परिच्छेद्यता
स्यादित्यत आह—सर्वव्यापीति । व्योमवत् सर्वानुस्यूतत्वात् । सर्वस्यानात्मत्वेन
तद्योगात् तथात्वं स्यादित्यत आह—सर्वभूतान्तरात्मेति । चतुर्विधभूतान्तर्वि-
भाताहंप्रत्ययालम्बनप्रत्यगात्मतया विभानात् न ह्यनात्मना संबध्यत इत्यर्थः ।
सर्वभूतप्रत्यक्त्वे तद्वत्कर्तृत्वादिसंसारिता स्यादित्यत आह—कर्माध्यक्ष इति ।
प्रतीचः सर्वभूतकृतकर्तृत्वाद्यस्पर्शित्वेन तत्कृतसर्वकर्मफलप्रदातृत्वात् । तथा चेत्
तद्वस्थता स्यादित्यत आह—सर्वभूताधिवास इति । सर्वभूतान्यात्मत्वेनाधिकृत्य
वसनात् सर्वात्मरूपः इत्यर्थः । सर्वभूताधिवासत्वेन तत्तद्भूतान्तःकरणवृत्त्यनु-
विद्धता स्यादित्यत आह—साक्षीति । साक्षिणः स्वसाक्ष्यस्पर्शित्वेन सर्व-
विलक्षणत्वात् न ह्यन्तःकरणवृत्त्यनुविद्धता स्यादित्यर्थः । “सर्वस्य साक्षी ततः
सर्वस्मादन्यो विलक्षणः” इति श्रुतेः । साक्ष्यसापेक्षसाक्षित्वे तद्वानयमित्यत
आह—चेतेति । अचेतनासाक्ष्यचेतयितृत्वात् न हि साक्ष्यविकारः तं स्पृशति

तत्र हेतुमाह—केवल इति । अशेषविशेषशून्य इत्यर्थः । गुणयोगेन गुणिनः केवलता कुतः इत्यत आह—निर्गुण इति । आविद्यकगुणानां कारणतुल्यत्वेन तद्योगस्य दुर्लभत्वात् निर्गुणः । चशब्दः निष्प्रतियोगिककेवलत्वख्यापकः इत्यर्थः, चिन्मात्रस्वरूपत्वात् । यस्तु इत्थंभूतनिर्गुणः परमात्मा निष्प्रतियोगिकैकरूपोऽपि सोऽयं स्वाज्ञदृष्ट्याऽनेक इव न वस्तुतः इति जानतां स्वातिरिक्तशान्तिपूर्वकं स्वमात्रस्थितिः स्यादित्याह—एक इति । यः परमात्मा वस्तुतः एकोऽपि स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्ववशी सर्वनियन्तृत्वात् सर्वभूतान्तरास्मेति व्याख्यातं स्वस्य वास्तवं यद्रूपं सजातीयविजातीयस्वगतभेदापह्नवसिद्धमेकं चिन्मात्ररूपं स्वाज्ञदृष्ट्या बहुधा नानेव यः करोति वस्तुतः चिन्मात्रमेवायं इत्यर्थः । तद्वहुत्वेन गानं स्वाज्ञाननिमित्तं स्वाज्ञाननिरसनोपायमाह—तमिति । य आत्ममात्रावशेषतया स्थितः तमात्मस्थं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया येऽनुपश्यन्ति धीराः ब्रह्मविद्वरीयांसः तेषां स्वमात्रावशेषलक्षणकैवल्यसुखं सिद्धं भवति नेतरेषां स्वावृतदृष्टित्वात् ॥ १६, १७ ॥

ब्रह्मास्त्युपायः

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ १८ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्मात्मनि जायतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १९ ॥

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि ।

जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥ २० ॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।

सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥ २१ ॥

^१ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ २२ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवान्वितम् ।

आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति ॥

तदास्त्युपायः कः इत्यत आह—आत्मानमिति । आत्मानं अन्तःकरणं अधरारणिं कृत्वा प्रणवमोकारं चोत्तरारणिं कृत्वा दीर्घघण्टानिनादवत् प्रणवमुच्चार्य तदा पूर्वोत्तरारणिस्थानीयान्तःकरणप्रणवध्याननिर्मथनाभ्यासात् कोऽयं प्रणवार्थः इत्यत्र स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तस्वाविद्यापदतत्कार्यप्रविभक्तजाग्रजाग्रदाद्य-
विकल्पानुज्ञैकरसान्तगतहेयांशापहवसिद्धं तुर्यतुरीयं ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यत इति प्रणवार्थानुसंधानं ध्याननिर्मथनाभ्यासः तस्मादभ्यासात् मथनाविर्भूतकाष्ठ-
निगूढाग्निवत् एवं जाग्रजाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनापहवसिद्धं तुर्यतुर्यं स्वावशेषधिया पश्येत् ॥ मथनात्तत्सार आविर्भवति इत्यत्र बहु दृष्टान्तमाह—तिलेष्विति । यथा तिल्यन्तर्घर्षणभ्रमणोपायतः तिलेषु तैलं स्पष्टमुपलभ्यते यथा दग्धि मथिते तज्जनवनीते अग्निना संस्कृते सर्पिर्घृतमुपलभ्यते यथा स्रोतस्सु भूनाडिषु खननोपायतः आप उपलभ्यन्ते यथा अरणिषु चाग्निः मथनादुपलभ्यते ।
चशब्दात् सूर्यकान्तादिष्वपि सूर्यकिरणयोगतोऽग्निरुपलभ्यत इति द्योत्यते यथा दृष्टान्तपरंपरा तथैवमात्मा तुर्यतुर्य आत्मन्यन्तःकरणे श्रुत्याचार्यसंस्कृते स्वातिरिक्तजाग्रजाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनां प्रसित्वा स्वमात्रं जायते उपलभ्यते असौ तुर्य इत्यर्थः । तदासावुपायान्तरमाह—सत्येनेति । सत्यवचनेन

^१ श्रेष्ठमुद्रितकोशे—

“यदात्मा प्रज्ञयात्मानं संधत्ते परमात्मनि ।

तेन संध्या ध्यानमेव तस्मात्संध्यामिवन्दनम् ॥

निरुद्धा ध्यानसंध्या वाक्कायक्लेशवर्जिता ।

संधिनी सर्वभूतानां सा संध्या ह्येकदण्डिनाम् ॥” इत्यधिकमुपलभ्यते ।

कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसा सत्यं ब्रह्माहमस्मि इति बोधेन तदुपायश्रवणादि-
तपसा वा योऽधिकारी अनुपश्यति तेनापि लभ्य इत्यर्थः ॥ अवस्था-
त्रयेऽपि जीवानेकत्वं स्यात् इत्यत्र दृष्टान्तेन तन्निराकरोति— ऊर्णनाभिरिति ।
यथोर्णनाभिः छता कीटः स्वशरीरतः तन्तून् सृजते न केवलम्; एवमुपसंहरति
च आर्द्रतन्तूनां लालासमतया सृष्ट्युपसंहारौ युज्येत इत्यर्थः । तथा जीवोऽयं
जाग्रत्स्वप्ने जाग्रत्स्वप्नौ छताकीटवत् सृजन्नुपसंहरन्नेक एव भवति बहुजनिवासना-
वैचित्र्यादहमेक इत्यस्मृतिरविरुद्धा स्वप्नादावनुभूतस्यानुभूतस्य च स्मृतेः उप-
लंभात् गृहात् गृहान्तरं शिशुरिवायं पुनः पुनः जाग्रदादिस्थानात् स्थानान्तरं
गच्छत्यागच्छते तस्मादवस्थापूर्वासंचार्यात्मा एक एवेत्यर्थः ॥ यत् पुरा जागरितादि-
स्थानतया नाभ्यादिरुक्तः इदानीं विस्पष्टमाह— नेत्रेति । नाभिनेत्रयोरेकत्वेन विवक्षि-
तत्वात् नेत्रे तिष्ठतीति नेत्रस्थः विश्वविश्वः तमात्मानं जागरितं जागरणावस्थागतं
विद्यात् कण्ठप्रदेशे जाग्रत्प्रविभक्तस्वप्नावस्थापन्नं विश्वप्रविभक्ततैजसं समाविशेत्
जाग्रत्प्रविभक्तसुषुप्त्यवस्थागतं विश्वप्रविभक्तप्राज्ञं हृदयस्थं त्वेव विद्यात् विश्वप्रवि-
भक्ततुरीयं दशमद्वारि मूर्ध्नि संस्थितं विद्यात् इत्यनुषज्यते ॥ तुरीययाथात्म्यं
विशदयति— यत् इति । यतो यस्मात् तुर्यात् श्रुतीनां वाचः संकल्पादिवृत्ति-
मन्मनसा सह निवर्तन्ते तमप्राप्याप्रकाशयेत्यर्थः । तदेतज्जीवस्य तुर्यानन्दरूपं
यत् ज्ञात्वा बुधो मुच्यते तदेव तुर्यानन्दरूपं तुर्ययाथात्म्यमित्यर्थः । तुरीयं
मूर्ध्नि संस्थितं इत्युक्तिः परिच्छिन्नता स्यात् इत्याशङ्क्य तत् परिहरन्
शास्त्रार्थमुपसंहरति— सर्वव्यापिनमिति । “व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मा”
इति श्रुत्यनुरोधेन निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रमप्यात्मानं स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तस्वातिरिक्त-
सर्वप्रपञ्चव्यापिनमपि नोपायं विना लभ्यत इति दृष्टान्तमाह— क्षीर इति ।
यथा क्षीरे सर्पिः स्वभावेन समर्पितमपि मथनाद्युपायं विना न लभ्यते
तथाऽयमात्मा नोपायमन्तरेण लभ्य इत्यर्थः । कोऽयं तदवगत्युपायः इत्यत आह—
आत्मेति । अनात्मापहवमुखेनात्ममात्रावगतिहेतुविद्योपनिषत्तपःश्रवणादिः तयो-
रपि मूलमास्पदं यद्ब्रह्म स्वमात्रतया अवशिष्यते तद्व्युपनिषत्पदमुपनिषदेक-

गम्यत्वात् उपनिषन्नाम ब्रह्ममात्रज्ञानं तत्पदं तु ब्रह्ममात्रं अभ्यासेतिशब्दौ
उपनिषत्तदर्थपरिसमाप्त्यर्थौ ॥ १८-२३ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्वाद्विवरणं ब्रह्मोपनिषदो लघु ।

ब्रह्मोपनिषदो व्याख्याग्रन्थस्तु द्विशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकादशसंख्यापूरकं
ब्रह्मोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

भिक्षुकोपनिषत्

पूर्णमद—इति शान्तिः

चतुर्विधा भिक्षवः

अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति
चत्वारः ॥ १ ॥

कुटीचकाः

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ
ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

भिक्षूणां पटलं यत्र विश्रान्तिमगमत् सदा ।

तत्तैपदं ब्रह्मतत्त्वं ब्रह्ममात्रं करोतु माम् ॥

अथ खलु शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्त्यं भिक्षुकोपनिषत् कुटीचकादिधर्मप्रशंसा-
पूर्वकं ब्रह्मणि पर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते ।
यथोक्ताधिकारिण उपलभ्य श्रुतिः कुटीचकादिधर्मपूगान् प्रकटयति । आदौ
कुटीचकादिधर्मानाह—अथेति ॥ १, २ ॥

बहूदकाः

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषाय-
वस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं
कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

बहूदकधर्मानाह—अथ बहूदका नामेति ॥ ३ ॥

हंसाः

अथ हंसा नाम ग्रामैकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं
तदुपरि न वसेयुः । गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायण-
परायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

हंसधर्मानाह—अथ हंसा नामेति ॥ ४ ॥

परमहंसाः

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्चेतकेतुजडभरतदत्तात्रेय-
शुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव
प्रार्थयन्ते । वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा । साम्बरा वा
दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौ न हि तेषां लाभालाभकलनास्ति ।
शुद्धाशुद्धद्वैतवर्जिताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं
कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति । अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वानिष्परि-
ग्रहाः शुक्लं च्यानपरायणा आत्ममात्रनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्त-
काले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलाल-
शालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्दरकुहरकोटरनिर्झरस्थण्डिले तत्र

ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन
देहत्यागं कुर्वन्ति । ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥ ९ ॥

परमहंसधर्मान् प्रकाशयति—अथ परमहंसा नामेति । तेषां वसतिं
चर्यामाह—वृक्षमूल इति । न तेषां धर्माधर्मौ भवतः प्रवृत्तिनिवृत्तिपराङ्मु-
खत्वात् सर्वत्र हर्षविषादाभावात् न हि तेषां लाभालाभकलनास्ति ।
विशिष्टाद्वैतं शुद्धद्वैतं केवलद्वैतं अशुद्धद्वैतं च येषां नाभिमतं ते शुद्धाशुद्धद्वैतवर्जिताः
निष्प्रतियोगिकाद्वैतिनः इत्यर्थः । अत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्वत्र
साम्यभावमापन्नब्रह्मदृष्टित्वात् ब्राह्मणजातिप्रविभक्तसर्ववर्णेषु चातुर्वर्ण्यधर्माश्रयणतो
ब्राह्मणाब्राह्मणादिषु यथोक्तकाले भैक्षमाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति ।
स्वात्मनो व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चाधिकरणत्वेन प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपत्वात् । अथ जातरूप-
धराः निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुद्धध्यानपरायणाः शुक्लतेजोनिष्ठं (शुक्लतेजोरूपं)
ब्रह्म इति श्रुत्यनुरोधेन ब्रह्ममात्रभावापन्ना इत्यर्थः । अत एवैते अनात्मापह्व-
सिद्धात्ममात्रनिष्ठाः इत्यर्थः । यदि बहिःश्वित्तस्तदा प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले
भैक्षमाचरन्तः । हंसशब्देन प्रत्यगभिन्नपरमात्मोच्यते पराक्सापेक्षप्रत्यग-
भेदगतसविशेषापायसिद्धः परमः स चासौ हंसश्चेति परमहंसः निष्प्रतियोगिक-
परमात्मा तदाचरणं तन्मात्रेणावस्थानं तेन परमहंसाचरणेन स्वातिरिक्तकलना-
संन्यासेन कर्मसंन्यासेन वा देहत्यागं देहोपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्यजातमस्ति
नास्तीति विभ्रमाभिमितित्यागं वा ये कुर्वन्ति ते परमहंसा नाम ब्रह्मैव भवन्ति
इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दो भिक्षुकोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥ ९ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

भिक्षुकोपनिषद्ब्याख्या लिखिता ब्रह्मगामिनी ।

भिक्षुकोपनिषद्ब्याख्याग्रन्थस्तु त्रिंशदीरितः ॥

इति श्रीमदीशान्वयोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षष्टिसंख्यापूरकं

भिक्षुकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

मैत्रेय्युपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

संसारविरक्तस्य आत्मजिज्ञासा

बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेद-
मशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम । स तत्र
परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठति अन्ते सहस्रस्य
मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवा-
ञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत् । स तस्मै
नमस्कृत्योवाच । भगवन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्ववित् शृणुमो वयम् । स
त्वं नो ब्रूहीति । एतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्या-
न्कामान्वृणीष्वेति । शाकायन्यस्य चरणावभिमृशमानो राजेमां
गाथां जगाद ॥ १ ॥

संसारनिर्वेदगाथा

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं
ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं

सुराणाम् । सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवा-
श्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीति अन्धूदपानस्थो मेक
इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

भगवन्निदं शरीरं मैथुनादेवोद्भूतं संविध्यपेतं निरय एव
मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुल्लिप्तं चर्मणावबद्धं
विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम् ।
एतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ ३ ॥

श्रुत्याचार्योपदेशेन मुनयो यत्पदं विदुः ।

तत्स्वानुभूतिसंसिद्धं स्वमात्रं ब्रह्म भावये ॥

इह खलु मैत्रेयीसंज्ञिकेयमुपनिषत् सामवेदप्रविभक्ता । अतोऽस्या
उपोद्घातादि छान्दोग्यादिवत् ज्ञेयम् । तीव्रतरवैराग्यस्वानुभूतिपारमार्थिकज्ञान-
प्राप्तिकेयं मैत्रेय्युपनिषत् । तस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । बृहद्रथ-
शाकायन्याद्याख्यायिका तु वक्ष्यमाणविद्यास्तुत्यर्था । केयमाख्यायिका इत्यत
आह—बृहद्रथ इति । अस्मिन् शरीरे । “बृहद्रथो वै नाम राजा” इत्यादि “को
न मुच्येत बन्धनात्” इत्यन्तं मैत्रायणीयोपनिषदि अन्यूनाधि[नानधि]-
काक्षरतया तत्र तत्र वर्तते । तद्व्याख्यानेनेदमपि व्याख्यातप्रायमेव स्यादिति व्याख्या
न क्रियते । बृहद्रथो वै नाम राजा यथोक्तसाधनसंपन्नः सन् स्वीयराज्यादिकं
परित्यज्य महारण्यप्रदेशमास्थाय आदित्यं पश्यन्नुर्ध्वबाहुः चिरकालं तपश्चचार ।
तत्तपसा तुष्टो भगवान् शाकायन्यमुनिमनुप्रविश्य तदिष्टसिद्धयै चोदितवान् । अथ स
मुनिस्तन्निकटं जगाम । स राजा तद्दर्शनमात्रेण सहसा उत्थाय दण्डवत् प्रणनाम ।
तं प्रणतमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ स्वेप्सितवरं वृणीष्वेति मुनिरब्रवीत् । ततो राजा ब्रह्मविद्यां
याचितवान् । तद्योग्यतापरीक्षणार्थं यत् त्वया पृष्ठं मास्तु तत् तस्यानिर्वचन-
ब्रह्मगोचरतया वक्तुमशक्यत्वात् अन्यान् कामान् वृणीष्व इति मुनिना
प्रलोभ्यमानोऽपि परमार्थतो न विचचाल ॥ १-३ ॥

ब्रह्मणः याथात्म्यप्रकटनम्

अथ भगवान्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानम् । महाराज
बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतो-
ऽसीत्ययं खल्वात्मा ते । कतमो भगवन्वर्ण्य इति । तं होवाच ॥ ४ ॥

शब्दस्पर्शादयो येषां अनर्था इव ते स्थिताः ।

येषां सक्तस्तु भूतात्मा न सरेच्च परं पदम् ॥ ५ ॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः ।

मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥ ६ ॥

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनौवुपशाम्यति ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनौवुपशाम्यति ॥ ७ ॥

स्वयोनौवुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः ।

इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ८ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।

यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।

प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥ १० ॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ११ ॥

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम् ।

साक्षिणं बुद्धिर्नृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥ १२ ॥

अगोचरं मनोवाचामवधूताधिसंल्लवम् ।

सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ १३ ॥

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम् ।

ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।

निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १४ ॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः ।

आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।

आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥ १६ ॥

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।

वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥ १७ ॥

वर्णाश्रमं सावयवस्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छूमात्रम् ।

पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्ते ॥ १८ ॥

एवं स्वातिरिक्तविषयपराङ्मुखं ब्रह्मविद्यापात्रं मत्वा आदौ ब्रह्मविद्या-
साधनत्वेन बाह्यान्तःकरणनिग्रहपूर्वकं श्रवणादिरूपं तप एव मुख्यसाधनं
इत्युपदिश्यते । अतो ब्रह्मयाथात्म्यं प्रकटयितुं भूमिकां रचयति—हृदिति ।
मुमुक्षुः संशयादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणं मननं च कृत्वाथ स्वहृदय-
पुण्डरीकमध्ये तु, तुशब्दो ब्रह्माभिव्यक्तिस्थानत्वद्योतकः । तत्रैव परमो निरति-
शयश्चासौ स्वमात्रतया अवस्थातुमीश्वरः समर्थश्चेति परमेश्वरः तं परमात्मानम् ।
“साक्षिणम्” इत्यादि “निर्वाणमयसंविदम्” इत्यन्तविशेषणजातनिर्धारितस्वरूपं
निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति भावयेत् ध्यायेदित्यर्थः । तद्विशेषणान्याह—साक्षिण-
मित्यादि । स्वाज्ञविकल्पितसाक्ष्यरूपबुद्धिचतस्य सत्तेव स्वज्ञदृष्ट्या तद्भावा-

भावप्रकाशकतया साक्षिणं परमप्रेमगोचरं स्वस्यैव सर्वस्मात् पुत्रवित्तादेरपि परमप्रेमास्पदत्वात् ॥ “सर्वस्मात् प्रियतमः” इत्यादिश्रुतेः परमप्रेमगोचरतया वागादिगोचरता स्यादित्यत आह—अगोचरं मनोवाचामिति । वागादिकरणग्राम-प्रसक्तानवगोचरत्वं न स्वतः निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वात् यदि ब्रह्म निष्प्रति-योगिकं तदा स्वाज्ञानां भवसागरतरणं तद्भावापत्तिर्वा कुतः इत्यत आह—अवधूताधिसंभवमिति । अवधूतश्रुतिस्मृतिर्मर्यादानां स्वाज्ञानामाधिव्याध्यादिजल-चरणन्तुजुष्टभवसागरप्लवं यद्वा अवधूतस्वाज्ञानानां ब्रह्मविदां भवसागरतरणोपाय-भूतसंभवस्थानीयापरब्रह्मरूपमतीत्य वर्तत इत्यवधूताधिसंभवः तं निर्विशेषपरमात्मान-मित्यर्थः । तत्र हेतुः सत्तामात्रप्रकाशकैकस्वभावमिति स्वातिरिक्तासत्ताप्रास-सत्तामात्रतया प्रकाशतीति सत्तामात्रप्रकाश एव एकं मुख्यं स्वभावो यस्य तथोक्तम् । एवं भावनास्पदत्वात् साकल्यापत्तिस्तत्राह—भावनातिगमिति । एवं भावनाहेतु-तूलाविद्यासंभवात् स्वाविद्याविद्यात्मकतूलाविद्यापाये यदवशिष्यते तद्रूपं किं हेयं यद्वा उपादेयं अथवा सामान्यं आहोस्वित् विशेषमिति ॥ तत्र नाद्यः—स्वाविद्या-पदतत्कार्यस्थूलांशस्य हेयत्वेन तत्कलनापहवसिद्धस्य अहेयत्वादहेयः । तं न द्वितीयः तत्सूक्ष्मांशस्य दृश्यत्वेनापादातुं शक्यत्वात् तदपहवसिद्धोऽनुपादेयः । तं न तृतीयः तद्वीजांशस्याव्यक्तप्रकृतिरूपत्वेन सामान्यरूपत्वात् तदपहवसिद्धोऽ-सामान्यः । तं नापि चतुर्थः तत्तुरीयांशस्य साम्यविद्यारूपत्वेन विशेषरूपत्वात् तदपहवसिद्धोऽविशेषः । तं एवं स्वाज्ञध्रुवानुभूतिसिद्धस्वाविद्यापदापहवतः अध्रु-वोऽयमात्मा भवितुमर्हति इत्यत आह—ध्रुवमिति । स्वाविद्यापदस्य स्वज्ञानुभूत्या अध्रुवत्वं तदपहवसिद्धस्य ध्रुवत्वं निरङ्कुशमित्यर्थः । अत एव स्तिमितगंभीरं निस्तरङ्गचिदर्णवरूपत्वात् चिदर्णवत्वे तत्किं तेजः उत तमः यद्वा ततं नाद्यः भौतिकतेजसोऽपहवान्न तेजः न द्वितीयः स्वाज्ञानतमसो ग्रासत्वान्न तमः न तृतीयः व्याप्यसामान्याभावान्नापि ततं उक्तविकल्पतदाभासयोरपहवात् निर्विकल्पं निराभासं यद्येवं तथाथात्म्यं किं इत्यत आह—निर्वाणमयसंविदमिति । निर्वाणमयं विकलेवरकैवल्यस्वरूपं न ह्यत्र मयदृशब्दो विकारप्राचुर्यार्थाभिधायी स्वरूपपरत्वात् संवित्स्वरूपज्ञानं पूर्णबोधस्वरूपं “सत्यं ज्ञानमनन्तं”, “विज्ञान-

मानन्दं ब्रह्म”, “कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते” इत्यादिश्रुतेः ॥ एवं राजा शाकायन्यमुखतः ब्रह्ममात्रावगतिमवगम्य चिरं समाधिनिष्ठो भूत्वा ब्रह्मविद्या-संप्रदायाविच्छेदाय स्वानुभवं प्रकटयामासेत्याह—नित्य इति । नित्यः काल-त्रयाबाध्यत्वात् शुद्धः अशुद्धस्वाज्ञानापायात् बुद्धः पूर्णबोधस्वरूपत्वात् मुक्तस्वभावः स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमतः इत्यर्थः । सत्यः पारमार्थिकसद्रूपत्वात् सूक्ष्मः निर्विशेषतया केशकोट्येकांशवत् सुसूक्ष्मरूपत्वात् संविभुश्च परिच्छेद-त्रयाभावात् अद्वितीयः स्वप्रतियोगिद्वैतस्य मृग्यत्वात् चशब्दो निष्प्रतियोगिकत्व-ख्यापनार्थः निस्तरङ्गानन्दाब्धिः पूर्णानन्दसमुद्रत्वात् यः सर्वस्मात् परः परमात्मा सोऽहमस्मि स एव भवामि पराक्प्रपञ्चे सति कथं परमात्मा भवसीत्यत आह—प्रत्यग्धातुरिति । पराक्प्रपञ्चप्रातिलोम्येनाञ्चनात् प्रत्यक्चासौ धातुश्चेति प्रत्यगभिन्नपरमात्माऽस्मीत्यत्रास्मिन्नर्थे न हि संशीतिः संशयोऽस्ति वस्तुतः प्रत्यक्पर इति विभागैक्यासहनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रत्वात् स्वातिरिक्तप्रपञ्चापदः सत्त्वात् कथमेवं भवसीत्यत आह—आनन्दमिति । स्वान्तर्हृदये निजं पारमार्थिक-सद्रूपमानन्दं सच्चिदानन्दं ब्रह्म स्वमात्रमित्याश्रयन्तमनवरतं भावयन्तं स्वाति-रिक्ताशासत्त्वात् कथं तदाश्रयणं इत्यत आह—आशेति । स्वातिरिक्तमस्तीत्याशौव पिशाची तां ब्रह्मातिरिक्तं नेत्यवमानयन्तं अपह्वं कुर्वन्तं स्वातिरिक्तजगत्प्र-तीतौ कथमेवं इत्यत आह—आलोकयन्तमिति । किं तत् पदे पदे जन्मस्थिति-भङ्गं गच्छतीति जगत् इन्द्रजालं मायामात्रं इत्यालोकयन्तं तत्राप्यसङ्गं मामेतादृशं कथं स्वातिरिक्तास्तितारूपेयमापत् स्वाज्ञदृष्टिप्रमाणसिद्धापि वस्तुमात्र-दृष्टिं प्रविशेदित्यर्थः । वर्णाश्रमाचारव्यवस्थायां सत्यां कथमेवं सिध्यतीत्याशंक्य स्वातिरेकेण वर्णाश्रमाद्यस्तीति ये मन्यन्ते त एव वध्यन्ते तद्विपरीताः तद्भ्रमतो मुच्यन्त इत्याह—वर्णेति । ब्रह्मक्षत्रादिः वर्णः ब्रह्मचर्यादिराश्रमः तत्रात्मा-त्मीयाभिमानयुता ये ते मूढाः स्वातिरिक्तास्तितामूलस्वाज्ञानारूढदृष्टित्वात् स्वस्वभावाच्चित्तकर्मानुसारेण फल्गुत्वेन भोगतो यद्विलीयते तत् स्वर्गनरकादिकं फलं क्षणभङ्गुरं लभन्ते घटीयन्त्रवदविश्रान्तं जन्ममरणे अनुभवन्ति हि ये तद्विपरीताः वर्णाश्रमादावात्मात्मीयमिति त्यजन्तः सन्तः तत्त्यागाधिकरण-

स्वानन्दात्मभावेन तृप्ता भूत्वा स्वेन रूपेण सर्वत्र पूरणात् पुरुषाः ब्रह्मैव
भवन्तीत्यर्थः । उक्तार्थमेव पुनर्विशदयन्नुपसंहरति—वर्णाश्रममिति । वर्णा-
श्रमविशिष्टं शरीरं कर्त्तव्यादिसावयवस्वरूपं आदिः उत्पत्तिः अन्तो नाशः
ताभ्यां युक्तं हि यस्मात् अतिकृच्छ्रमात्रं कष्टमात्रपर्यवसानं तत्र स्वदेहे
पुत्रादिदेहेष्वपि आत्मात्मीयाभिमानशून्यं मनः कृत्वा स्वयं विद्वान्
सर्वापहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं भूत्वा अखण्डानन्दतः सौख्यतमे
परिच्छेदत्रयाभावादनन्ते स्वे महिम्नि वसेत् । इतिशब्दस्तु प्रथमाध्याय-
परिसमाप्त्यर्थः ॥ ४-१८ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

मैत्रेयं प्रति महादेवस्य उपदेशः

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच । भो
भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति । स होवाच महादेवः ॥ १ ॥
देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥ २ ॥
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ३ ॥
ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एव मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥

मैत्रेयः पराशरमुखाद्विदिततत्त्वोऽपि सर्वलोकप्रत्ययजननार्थं कैलासं गत्वा
यथाविधि तन्मुखात् परमतत्त्वरहस्यबुभुत्सया विधिवत् पप्रच्छेत्याह—अथेति ।
मुनिना पृष्ठः स होवाच महादेवः। किमुवाच इत्यत्र देहजीवयोः शिवालय-
शिवदृष्ट्या स्वाज्ञाननिर्मात्यविसर्जनपूर्वकं यः सोऽहंभावेन पूजयेत् स मुक्तो
भवतीत्याह—देह इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १-४ ॥

शौचविधानम्

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।

सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ५ ॥

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।

विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६ ॥

नवद्वारमलस्त्रावं सदा काले स्वभावजम् ।

दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७ ॥

मात्रा सूतकसंबद्धं सूतके सह जायते ।

मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ८ ॥

अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिलोचनम् ।

शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥ ९ ॥

देहे देवोपभोगदेवाल्यादिदृष्टिं विना आत्मात्मीयाभिमानतो देहस्या-
स्पृश्यत्वेनाशुचित्वं तद्ब्रह्मज्ञानादिशुद्धोदक्षालनाच्छुचित्वं स्यादित्याह—जातमिति ।
अत्र यदि कदाचित् आत्मात्मीयाभिमानेन देहं स्पृशति तत्र आत्मात्मीयाभि-
मित्याग एव स्नानं विधिचोदितं इत्यर्थः । “स्नानं मनोमलत्यागः” इत्युक्तत्वात् ।
किं च—धातुबद्धमिति । वातपित्तादिधातुबद्धं नानारोगायतनत्वात् । किं च—

नवद्वारेति । सूतकेन सह जायत इत्यर्थः । “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” इति स्मृतितः । तच्छौचप्रकारमाह—अहमिति ॥ ९-९ ॥

चित्तशुद्धिः

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम् ।

ज्ञानवैराग्यमृत्योयैः क्षालनात् शौचमुच्यते ॥ १० ॥

अद्वैतभावना भैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम् ।

गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥ ११ ॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः ।

कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्भूतो वसेत् ॥ १२ ॥

एवं शौचतः किं स्यात् इत्याशङ्क्य वासनात्रयक्षयपुरस्सरं चित्तशुद्धिः स्यात् इत्याह—चित्तेति ॥ “ब्रह्मामृतं पिवेद्भैक्षं” इति यदुक्तं तदनेन मन्त्रेण विशदयति—अद्वैतेति ॥ इत्थंभूतो भिक्षुः कासनमर्हतीत्याशङ्क्य ज्ञातचरदेशात् वहिरेव चरेदित्याह—विद्वानिति ॥ १०-१२ ॥

अहंकारादित्यागः

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम् ।

आशापर्णी त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १३ ॥

बाह्यदारपुत्रादित्यागमात्रेण मुक्तिर्नाहंकारादित्यागेनेत्याशङ्क्य बाह्यदारादित्यागपूर्वकं अहंकारादित्यागेनैव मुक्तिः स्यात् इत्याह—अहंकारेति । बाह्यान्तः-संन्यासाभ्यामेव मुक्तिः स्यात् नान्यतरत्यागतः इत्यर्थः ।

“विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।

तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥”

इति श्रुतेः ॥ १३ ॥

कर्मत्यागः

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।

सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपासहे ॥ १४ ॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।

नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपासहे ॥ १५ ॥

एकमेवाद्वितीयं यदुरोर्वाक्येन निश्चितम् ।

एतदेकान्तमित्युक्तं न मठं न वनान्तरम् ॥ १६ ॥

सन्ध्यादिकर्मत्यागात् प्रत्यवायी स्यात् इत्याशङ्क्य स्वाज्ञानहानात् स्वज्ञानोदयतः चिदादित्यस्य उदयास्तमनाभावाच्च सन्ध्यादिकर्मकरणानुपपत्तिमाह—मृतेति द्वाभ्याम् । रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम् । “एवंविदश्चिदादित्यस्य उदयास्तमयाभावात् सर्वकर्माभावः” इति श्रुतेः “वसेदेकान्तिको भूत्वा” इति यदुक्तं तदेकान्तस्वरूपं विशदयति—एकमेवेति ॥ १४-१६ ॥

मुख्यसंन्यासः

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् ।

न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

कर्मत्यागाच्च संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु ।

संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

“देहो देवालयः” इत्यादि मया यदुक्तं तत्रासंशयवतां मुक्तिः न हि संशयवतां इत्याह—असंशयेति ।

“नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।”

इति स्मृतेः । प्रैषतः कर्मत्याग एव मुख्यसंन्यासः इत्याशङ्क्य जीवपरभेदत्याग एव मुख्यसंन्यास इत्याह—कर्मेति ॥ १७, १८ ॥

संन्यासाधिकारी

वमनाहारवद्यस्य भवति सर्वेषणादिषु ।

तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १९ ॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु ।

तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ २० ॥

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।

संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्नुमर्हति ॥ २१ ॥

संन्यासाधिकारी कीदृशः इत्याशङ्क्य यस्य वान्ताशनमूत्रपुरीषादिवत्
बाह्यार्थेषु हेयतोदेति स एव संन्यासाधिकारीत्याह—वमनेति ॥ संन्यासमूलं
किं इत्याशङ्क्य स्वातिरिक्तविषयतीव्रतरवैराग्यमेवेत्याह—यदेति ॥ निमित्तान्त-
रेणापि संन्यासकरणं श्रेयः इत्यत आह—द्रव्यार्थमिति ॥ १९-२१ ॥

मुक्तिं प्रति साधनान्तराणि

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।

अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २२ ॥

तीर्थमन्त्रशास्त्रतत्त्वचिन्तनं मुक्तिं प्रति समानसाधनं इत्यत आह—
उत्तमेति । परस्परोपायोपेयतया मुक्तिसाधनं एतच्चतुष्टयं न समानमित्यर्थः ।
तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा इत्यत्र विसर्गलोपश्छान्दसः ॥ २२ ॥

अनुभवः

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।

प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २३ ॥

न त्यजेच्चेदितिमुक्तो यो माधूकरमान्तरम् ।

वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २४ ॥

केवलशास्त्रज्ञानादेव ब्रह्मावाप्तिः किमनुभवेन इत्यत आह—अनुभूति-
मिति । अस्ति ब्रह्मेति शास्त्रीयज्ञानं परोक्षं, अहं ब्रह्मेत्यपरोक्षज्ञानमनुभवात्मकं
ब्रह्ममात्रज्ञानस्य स्वानुभूतिप्रमाणसिद्धत्वात् । इत्थंभूतानुभूतिं विना ब्रह्मानुमोदनं
जलप्रतिबिम्बितफलास्वादनवत् न हि कार्यकारी भवतीत्यर्थः । श्रद्धाभक्ति-
ज्ञानवैराग्यपुरस्सरं अद्वैतभावनाख्यान्तरमाधूकरभजनं यः करोति स यतिमुक्तो
भवतीत्याह—न त्यजेदिति ॥ २३, २४ ॥

परमरहस्योपदेशः

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।

ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥ २५ ॥

मन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।

परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥ २६ ॥

पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।

तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्वाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥

अन्तः पूर्णो वहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।

अन्तः शून्यो वहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥ २७ ॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।

भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ २९ ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।

दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥ ३० ॥

धनादिदृष्टेभ्यो ज्ञानवृद्धं महीकरोति—धनेति । स्वज्ञानिनं “ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्” इति स्वोक्यनुरोधेन महीकृत्य तद्विपरीतस्वाज्ञजन्म धिग् धिगिति निन्दति मदिति मन्माययेति । सूरयोऽपि ये मां न जानन्ति तेषां जन्म अजागलस्तनवद्व्यर्थमित्यर्थः । “सोऽहंभावेन पूजयेत्” इति यदुक्तं तत्र स्वभेदधिया कृतवाह्यपूजापुनर्भवकरीति निन्दनपूर्वकमभेदपूजनं स्वपदप्रापकमिति स्तौति—पाषाणेति । परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति यत् पृष्ठं तत्र स्वस्य स्वातिरिक्तस्य च निष्प्रतियोगिकपूर्णत्वं शून्यत्वं च सदृष्टान्तं प्रतिपादयति—अन्तरिति । अर्ण-वाम्बरमध्यपतितपूर्णशून्यकुम्भ इव स्वयमन्तर्बहिरन्तरालेति पूर्णः अन्तर्बाह्यान्तरालकलनाभावात् तथा स्वातिरिक्तमन्तर्बाह्यान्तरालकलनाशून्यं स्वातिरिक्त-योर्निष्प्रतियोगिकभावाभावरूपत्वात् ग्राह्यग्राहकतया सविषयकरणग्रामदृष्टादि-त्रिपुटिसत्त्वात् कथं स्वातिरिक्तयोर्भावाभावरूपतेत्याशङ्क्य परमार्थतो ब्रह्मातिरिक्तं नास्त्येव यदि स्वाज्ञदृष्ट्या तत्प्रसक्तिस्तदा ग्राह्यग्राहकादिकलनाविशिष्टदृष्टादि-नानात्रिपुट्यपहवसिद्धं ब्रह्म स्वमात्रमिति भजेत्याह—मा भवेति ॥ २९-३० ॥

विदेहमुक्तस्य स्थितिः

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३१ ॥

ग्राह्यं विषयजातं ग्राहकं करणजातं त्रिपुट्यादिसर्वव्यापृतप्रथमाभासं प्रत्यञ्चं पराभावापहवसिद्धपरमात्मानं केवलं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति हे मैत्रेय तन्मात्रं भव तदेव भवेत्यर्थः । तन्मात्रावस्थिते विदेहमुक्तस्य स्थितिः कीदृशी इत्यत आह—संशान्तेति । यस्यां स्वातिरिक्तनानाविषयगोचरसर्वसंकल्पः शान्त अपह्वं गतः सेयं संशान्तसर्वसंकल्पा या पीवरी शिलावत् स्थिरा अवस्थितिः या जाग्रन्निद्रोपलक्षितव्यष्टिसमष्टिजाग्रजाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्त-चतुष्पञ्चदशकलनाविनिर्मुक्ता यत्प्रबोधसमकालमपहवतां गता सैव परा काष्ठा स्वरूपस्थितिः विकलेवरमुक्तिः स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति सेयमेकरूपैवाव-

शिष्यते । परमशिवोपदेशमहिम्ना मैत्रेयः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । इतिशब्दः
शिवोपदेशपरिसमाप्त्यर्थो द्वितीयाध्यायपरिसमाप्त्यर्थश्च ॥ ३१ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

मैत्रेयस्य स्वानुभवप्रकटनम्

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥
अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।
अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥
विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥
मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥
भावाभावविहीनोऽस्मि भाषाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः ।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥ ६ ॥
एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च ।
सदसद्बेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः ।
 नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ८ ॥
 आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ।
 बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि शुद्धं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ९ ॥
 चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः ।
 सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १० ॥
 अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः ।
 ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ११ ॥
 सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।
 सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२ ॥
 लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् ।
 मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥ १३ ॥
 न जगत्सर्वद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ।
 प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥
 सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।
 सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥
 मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।
 नित्यं चिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ॥ १६ ॥
 यत्किंचिदपिहीनोऽस्मि स्वरूपमप्यपिनास्म्यहम् ।
 हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्बुजमध्यगः ॥ १७ ॥

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ।
 अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ १८ ॥
 देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
 नास्तिनास्तिविमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् ॥ १९ ॥
 अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम् ।
 प्रपञ्चमुक्तवित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥ २० ॥
 सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
 कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ २१ ॥
 कायकायिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
 मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥ २२ ॥
 सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्रात्रास्म्यहं सदा ।
 गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥ २३ ॥
 सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
 एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ॥ २४ ॥
 यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ २५ ॥
 इत्युपनिषत् ॥

अथ भगवान् मैत्रेयः परमशिवमुखतः परमतत्त्वरहस्यं निष्प्रतियोगिक-
 ब्रह्ममात्रज्ञानं यथावदवगम्य स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमविरलब्रह्ममात्रभावाखण्डोऽपि
 ब्रह्मविद्याचार्यपरमशिवसंकल्पवशात् बहिष्ठः प्राणिपटलपुण्योद्वेकाच्च यच्छ्रवणादि-
 मात्रेण स्वाज्ञलोकः स्वज्ञो भूत्वा परमार्थज्ञानसमकालं विदेहमुक्तो भवेत् तथा
 तत्परमशिवोपदिष्टस्वानुभूतार्थं ब्रह्मविद्यासंप्रदायस्थापनार्थं वा यथोक्ताधिकारिण
 उद्दिश्य स्वानुभवं प्रकटयामासेत्याह—अहमस्मीति । देहान्तरवभासकः

प्रत्यगस्मच्छन्देनोच्यते स्वान्तरवस्थितपराकप्रपञ्चापेक्षया अहं प्रत्यगस्मि
 देहाद्बहिर्विलसितप्रपञ्चापेक्षया परश्चास्मि । चशब्दः प्रत्यक्परयोरौपाधिकभेद-
 निरसनार्थः प्रत्यक्परभेदापेक्षया प्रत्यगभिन्नब्रह्मास्मि स्वाज्ञदृष्ट्या जीवेशादिरूपेण
 प्रभवामीति प्रभवोऽस्म्यहम् । किं च—सर्वेति । ईश्वररूपेण सर्वलोकगुरुश्चास्मि ।
 चशब्दः साक्ष्यग्यस्मीति द्योतकः । वैराजरूपेण सर्वलोकोऽस्मि विराजो
 ब्रह्माण्डकायत्वात् वस्तुतो यः सर्वकलनापहवसिद्धः सोऽस्म्यहं निष्प्रतियोगि-
 कत्वात् । किं च—अहमिति । स्वेन रूपेण सिद्धः अशुद्धः स्वाज्ञानहानाच्छुद्धः ।
 शिष्टमुक्तार्थम् । किं च—अहमस्मीति । यः सदैकरसः सोऽस्मि अनित्यमल-
 प्रपञ्चहानान्नित्योऽस्मि विमलोऽस्मि । नित्यविज्ञप्तिरूपतो विज्ञानोऽस्मि ।
 यस्माच्छेषशेषिभावो विगतः सोऽहं विशेषोऽस्मि । स्वरूपेण उभया सहितः
 सोमोऽस्मि चतुष्पष्टिकलावदीश्वराभेदेन सकलोऽस्म्यहं प्राणादिनामान्तषोड-
 शकलाविशिष्टसूत्राभेदेन वा सकलोऽस्मि । किं च—शुभ इति । निवृत्तिमार्ग-
 गम्यत्वाच्छुभः शोचनीयविषयाभावाच्छोकहीनः जडदेहादिविलक्षणत्वा-
 च्छैतन्योऽस्मि नानोपाधिषु विषमेष्वपि सर्वान्तर्याम्यादिरूपेण समः मानाव-
 मानवृत्तिमत्तूलाविद्याप्रलयान्मानावमानहीनोऽस्मि सत्त्वादिगुणाभावान्निर्गुणोऽस्मि
 स्वातिरिक्ताशिवाभावाच्छिवोऽस्मि । किं च—द्वैताद्वैतेति । प्रवृत्तिमार्गसिद्धं द्वैतं
 निवृत्तिमार्गसिद्धमद्वैतं स्वातिरेकेण प्रवर्तनीयनिवर्तनीयस्वाविद्यापदतत्कार्याभावात् ।
 द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि शीतोष्णादिद्वन्द्वभावात् । द्वन्द्वहीनोऽस्मि बाह्यान्तः-
 करणगोचरसदसत्प्रपञ्चवैरल्यात् भावाभावविहीनोऽस्मि महामौनब्रह्मरूपत्वात्
 भाषाहीनोऽस्मि स्वयंप्रकाशरूपत्वात् भास्म्यहम् । किं च—शून्येति ।
 शून्यं स्वातिरिक्तं अशून्यं स्वयं द्वयमपि यत्प्रभावसिद्धं सोऽहं शून्याशून्य-
 प्रभावोऽस्मि विद्यातत्कार्यं शोभनं अविद्यातत्कार्यमशोभनं स्वाज्ञादिदृष्ट्या
 तदुभयमस्मि तुल्यं समं अतुल्यं विषमं तदुभयवैरल्यात्तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि ।
 नित्यः शुद्धो व्याख्यातम् । स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति सदैव शिवः परम-
 मङ्गलकैवल्यरूपत्वात् । किं च—सर्वासर्वविहीनोऽस्मि समष्टिव्यष्टिकलना-
 वैरल्यात् स्थितिकर्तृविष्णुरूपेण सात्त्विकोऽस्मि वस्तुतः सदा निर्गुणो-

ऽस्म्यहं एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च सापेक्षैकद्वयाभावात्
 “एकाभावे द्वितीयं न न द्वितीयेन चैकता” इति श्रुतेः । सदसद्देहीनोऽस्मि
 चाक्षुषाचाक्षुषपदार्थाभावात् । संकल्परहितोऽस्म्यहं तद्धेतुमनसो मृग्यत्वात् ।
 नानात्मभेदहीनोऽस्मि घटशरावादिस्थानीयनानोपाधीनां भेदभिन्नत्वेऽपि तद-
 वच्छिन्नाकाशस्थानीयप्रत्यगात्मनो निर्भेदरूपत्वात् । अहं हि अहमेव अखण्डा-
 नन्दविग्रहः निस्तरङ्गानन्दसागरत्वात् । स्वातिरिक्तं नाहमस्मि न च तस्मा-
 दन्योऽस्मि स्वातिरिक्तस्य शशविषाणवदवस्तुत्वात् । देहादिप्रसक्तौ देहादि-
 रहितोऽस्म्यहम् आश्रयमविद्याण्डं तद्रतभुवनजातमनाश्रयि तदुभयाभावात् ।
 आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् स्वस्यैव सर्वाधारत्वात् ;
 स्वाधेयाभावतो वा आधारत्वरहितः । बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि देहादावहंभावो
 बन्धः ; तदहंभावाभावो मोक्षः, विदेहमुक्तत्वात् । तद्रहितः शुद्धं ब्रह्मास्मि
 सोऽस्म्यहम् । उक्तार्थम् । चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि चित्ताद्यन्तःकरणतद्वृत्तिसहस्रा-
 भावात् परमोऽस्मि परात् परः परं अक्षरं तस्मादपि परः परमाक्षररूपत्वात् ।
 सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ज्ञानाज्ञानवृत्तिमदविद्या-
 तुर्यादिभागचतुष्टयवैरल्यात् । अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः
 प्रणवार्थत्वेन चिरन्तनत्वात् । ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि
 सोऽस्म्यहम् ध्यात्रादित्रिपुट्यभावात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि ।
 अनृतादिप्रपञ्चपूरणात् तथात्वशंकायां सच्चिदानन्दलक्षणः सत्यज्ञानानन्द-
 स्वरूपत्वात् । सार्धत्रिकोटिसर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि तीर्थानामपि तीर्थरूपत्वात्
 परमात्मास्म्यहं शिवः देहादेः परतरत्वात् “ब्रह्मैव परमात्मा” इति श्रुतेः ।
 लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लक्ष्यं मूर्तं लक्षणैकसिद्धं वा तद्विपरीतं अलक्ष्यं
 अमूर्तं लक्षणासिद्धं वाच्यं वा तत्सर्वकलनाविहीन इत्यर्थः । लयहीनरसोऽस्म्यहं
 लयो नाशः तद्विहीननित्यानन्दरसोऽस्मीत्यर्थः । मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः
 शिवोऽस्म्यहम् मात्रादित्रिपुटिशून्योऽस्मि । न जगत्सर्वद्रष्टास्मि जगन्नाहं किं
 तु तद्द्रष्टास्मि सर्वसाक्षित्वात् । नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् नेतृत्वं प्रेरयितृत्वं
 आदिशब्देन भासकत्वादिरुच्यते ; नेतृत्यभासकत्वादिकलनारहितोऽस्मि प्रेर्यभास्य-

जङ्गमस्थावराभावात् स्वनैव रूपेण प्रवृद्धो विजृम्भितोऽस्मि “ब्रह्मैवैकमनाद्यन्त-
मब्धिवत् प्रविजृम्भते” इति श्रुतेः । स्वाविद्यास्वापात् प्रबुद्धो जागरूकोऽस्मि
भगवद्रूपेण भागवतपटलस्य प्रसन्नोऽस्मि स्वाविद्याद्वयतत्कार्यं स्वावशेषेण
हरोऽस्म्यहम् । सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि शरीरत्रयाभावात् सर्वकर्मकृदप्यहम् तत्त-
दिन्द्रियेषु तत्तदिन्द्रियं भूत्वा तत्तदिन्द्रियप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । यद्वा सर्वेन्द्रियाभावेऽपि
सर्वेन्द्रियध्यापृतिकृत्वात् “अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स
शृणोम्यकर्णः” इत्यादिश्रुतेः सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ।
ईशाद्यष्टोत्तरशतगतसर्ववेदान्तवाक्यार्थज्ञानफलकैवल्यानन्देन तृप्तोऽस्मि अनन्य-
भावेन भजतां सर्वदा परमसुलभोऽस्मि सकृद्भजतां परमाभयप्रदश्रीरामरूपत्वात् ।

“सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥”

इति श्रीरामोक्तेः । मुदितामुदिताख्योऽस्मि सत्सु मुदिता असत्सु अमुदि-
तापेक्षादिवृत्तिविशिष्टजीवन्मुक्तरूपत्वात् । सर्वमौनफलोऽस्म्यहं तत्तत्करण-
व्यापृत्युपरमलक्षणं सर्वमौनं ब्रह्ममात्रज्ञानं तत्फलं विकलेवरकैवल्यमस्मीत्यर्थः ।
नित्यं चिन्मात्ररूपोऽस्मि अनित्याचिन्मात्रस्य मृग्यत्वात् । सदा सच्चिन्म-
योऽस्म्यहम् सच्चिदानन्दस्वरूपत्वात् । यत्किंचिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यपि
नास्म्यहं स्वातिरेकेण यत्किंचित् स्वल्पमपि स्वातिरिक्तस्य मृग्यत्वात् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदिल्यन्तःकरणं अयमिति साक्षी तयोस्तादात्म्यं
हृदयग्रन्थिरिति चिदाभास उच्यते जीवत्वस्य मृग्यत्वात् । हृदयाम्बुजमध्यगः
अन्तर्याम्यादिरूपत्वात् षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहं अरि-
षड्वर्गमुक्तोऽस्मि शैशवावस्थकौमारादिषड्विकारत्वगादिषट्कोशकामाद्यरिषड्व-
र्गादिविकारास्पदस्थूलादिशरीराभावात् । अन्तरात् सर्वान्तरात् ईश्वरात्
अन्तरः साक्ष्यहं देशकालविमुक्तोऽस्मि देशादिपरिच्छेदत्रयशून्यत्वात् ।
दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् मुख्यावधूतानुभूतपरमानन्दरूपत्वात् । नास्ति नास्ति
विमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् निष्प्रतियोगिकसन्मात्रत्वात् । अखण्डाकाश-
रूपोऽस्मि अखण्डाकारमस्म्यहम् चिदाकाशत्वेनाखण्डेकरसरूपत्वात् । प्रपञ्च-

मुक्तचित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् निष्प्रतियोगिकनिष्प्रपञ्चरूपत्वात् । सर्व-
 प्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् प्रकाशमात्रतया चिन्मात्रज्योती-
 रूपत्वात् । कालत्रयकलनाविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् अमनस्क-
 रूपत्वात् । कायकायिविमुक्तोऽस्मि कायतद्वच्छिन्नजीवाभावात् । निर्गुणः
 व्याख्यातं केवलोऽस्म्यहम् अशेषविशेषशून्यत्वात् । मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि
 मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा पारमार्थिकबन्धाभावात् मुक्तिहीनः स्वाज्ञदृष्ट्या
 बन्धप्रसक्तौ स्वज्ञदृष्ट्या मुक्तोऽस्मि परमार्थदृष्ट्या बन्धमोक्षकलनाविरलब्रह्ममात्र-
 त्वात् । सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सापेक्षसत्यासत्यापह्नवसिद्धपारमार्थिकसत्यत्वात् ।
 सन्मात्रात् अन्यत् नास्म्यहं सदा सन्मात्रमेव स्यां इत्यर्थः । गन्तव्यदेश-
 हीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः पूर्णरूपत्वात् । सर्वदा सच्चिदानन्दात्मना
 नामरूपवैषम्येऽपि समरूपोऽस्मि वस्तुतः स्वातिरिक्तशान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः
 क्षराक्षरकलनाविरलपरमाक्षरत्वात् एवं ममेवेशभावापत्त्या यस्य स्वानुभवो
 भवति सोऽहमस्मि इत्यत्र न हि संशयोऽस्ति । एवं परमशिवभावमापन्नमैत्रेयमुनेः
 स्वानुभूतिवैभवं सकृदपि यः शृणोति सोऽयं स्वयमेव ब्रह्म भवति ।
 इत्युपनिषच्छब्दः मैत्रेय्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १-२५ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

मैत्रेय्युपनिषद्टीका लिखितेशप्रसादतः ।

मैत्रेय्युपनिषद्टीका षष्ठ्यधिविशतात्मिका ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनत्रिंशत्संख्यापूरकं
 मैत्रेय्युपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

याज्ञवल्क्योपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन्
संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य
गृही भवेत् । गृहात् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्या-
देव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको
वास्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव
प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

आहिताग्निसंन्यासविधिः

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् ।
आग्नेयामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवैतया करोति ।
त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम
इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं
गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

निरमिकसंन्यासविधिः

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु
जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि
स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्सान्ज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रै-
स्त्रय्येवं विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं
छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत् । एवमेवैतद्भगवन्निति वै
याज्ञवल्क्यः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः

अथ हैनमग्निः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । अयज्ञोपवीती कथं
ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोप-
वीतं य आत्मा प्राश्याचम्य अयं विधिः ॥ ४ ॥

संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तव्यनिरूपणम्

अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही
भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । एष पन्थाः परिव्राजकानाम् ।
वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा ।

एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति संन्यासी ब्रह्मविदिति । एवमेवैष
भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्चेतकेतुदुर्वासक्रभुनिदाघदत्तात्रेय-
शुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता
उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ ६ ॥

साम्बरपरमहंसलक्षणम्

परस्त्रीपुरपराङ्मुखाः त्रिदण्डं कमण्डलुं मुक्तमात्रं जलपवित्रं
शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्या-
त्मानमन्विच्छेत् ॥ ७ ॥

दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्

यथाजातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः तत्त्वब्रह्ममार्गे
सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो
भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्ड-
लूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुः
अबाधकरहस्यस्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार-
देवगृहतृणकूटवलमीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरि-
कुहरकोटरकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेध्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभ-
कर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नास्मेति ॥ ८ ॥

संन्यासज्ञानसंपन्ना यान्ति यद्वैष्णवं पदम् ।

तत्तत्पदब्रह्मतत्त्वरामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्तेयं याज्ञवल्क्योपनिषत् पारमहंस्यधर्मपूग-
प्रकटनव्यग्रा निर्विशेषब्रह्मतत्त्वपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः स्वल्पप्रग्रन्थतो
विवरणमारभ्यते । जनकात्रियाज्ञवल्क्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तु-
त्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—अथेति । अथ वर्णाश्रमधर्मश्रवणानन्तरं
जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ । किमिति—भगवन् संन्यासलक्षण-
मनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्
इत्यादि परमहंसो नामेत्यन्तं प्रायशो जावालोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥१-८॥

संन्यासिनः परमेश्वरत्वम्

आशाम्वरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य-
निर्वर्तकः परित्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥ ९ ॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।

तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १० ॥

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।

संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥ ११ ॥

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।

प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥ १२ ॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥ १३ ॥

उक्तलक्षणलक्षितः परित्राट् परमेश्वर एवेत्याह—आशेति । लक्षणया
बोधितं लक्ष्यं तद्विपरीतं अलक्ष्यं समाहितासमाहितावस्थाभ्यां तदुभयनिर्वर्तकः

परिव्राण्णिरावृत्तित्रयसंपत्तिः परमेश्वरो भवति । न नमस्कारो न दार-
पुत्राभिलाषीत्युक्त्या विविदिषासंन्यासिनामपि त्यक्तदारपुत्रत्वात् तैरपि ज्येष्ठ-
कनिष्ठादीनां नमस्कारो न कर्तव्यः इत्याशङ्क्य धर्मतः स्वतुल्याधिकारिणो
नमस्कार्या नेतर इति । अत्रैते श्लोका मन्त्रा भवन्तीत्याह— अत्रैते श्लोका
भवन्तीति । के नमस्कारानर्हाः इत्यत्राह— प्रमादिन इति ॥

“ तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥ ” इति,

“ दण्डं भिक्षां च यः कुर्यात् स्वधर्मे व्यसनं विना ।

यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥ ” इति च ॥

वेदान्तैर्येषामाशयो दूषितः ते वेदसन्दूषिताशया यतयो । यदि विदितशीलास्तदा
ते ज्येष्ठा अपि न नमस्कार्या इत्यर्थः । यदि छान्दोग्यसप्तमाध्यायपठितनामादि-
प्राणान्तकलनाविरलभूमब्रह्मनिष्ठो यतिः । तदा स्वदृष्ट्या स्वातिरिक्तज्येष्ठ-
कनिष्ठभिदावैरल्याच्च तस्य ज्येष्ठकनिष्ठनमस्कारनियमोऽस्ति । इच्छा चेन्नमस्कुर्यात्
नोचेत्तूष्णीं तिष्ठेत् इत्याह— नामेति । यद्यनेवंवित्तदा ईश्वरः ॥ ९-१३ ॥

स्त्र्यादीनां कुत्सनम्

मांसपाञ्चालिकायास्तु मन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।

स्नायवस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ १४ ॥

त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने ।

समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥ १५ ॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलयोपमा ।

दृष्ट्वा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः ॥ १६ ॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एवं ललनास्तनः ।

श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ १७ ॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।

दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ १८ ॥

ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।

स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥ १९ ॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।

नार्यो नरविहङ्गानामङ्गवन्धनवागुराः ॥ २० ॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।

पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी वडिशपिण्डिता ॥ २१ ॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्रिकयानया ।

दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २२ ॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क भोगभूः ।

स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।

लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ २४ ॥

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता ।

उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५ ॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।

पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ २६ ॥

संन्यासिसामान्यस्य द्विविधब्रह्मचर्यभूषितत्वेन तद्ब्रह्मचर्यास्खलनाय स्त्री-
सामान्यं कुत्सयति—मांसेत्यादिना । सुसमुद्रिकया पेटिकारूपया । मांस-
पाश्चात्तिकाया इत्यारभ्य जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् इत्यन्तं प्रायशो
महोपनिषदि नारदपरिव्राजकोपनिषदि च व्याख्यातम् । परिव्राजकानां दार-
पुत्रादेरप्रसक्तत्वात् विरक्तगृहिणामपि पुत्रेषणाया दुस्त्यजत्वेन तत्र वैराग्यहेतवे
पुत्रभावाभावगतिं कुत्सयति—अलभ्यमान इति । आवयोर्दम्पत्योः पुत्रो
नास्तीति अलभ्यमानस्तनयः पुत्राभावः । पुत्रोत्पत्त्यादेर्बहुदोषस्पृष्टत्वेन पुत्रादेष-
णाल्याग एव कर्तव्यः इत्यर्थः ॥ १४-२६ ॥

सद्यतिः

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।

न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥

रिपौ वद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।

विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ २८ ॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ २९ ॥

नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालने भृशम् ।

कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥ ३० ॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।

प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥ ३१ ॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।

चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥ ३२ ॥

यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम् ।

नातः परतरं किञ्चिद्विद्यते मुनिपुङ्गव ॥ ३३ ॥

इत्युपनिषत् ॥

नमस्कार्यः सद्यतिः कीदृशः इत्याशङ्क्य पाणिपादनेत्रचापल्यविरल एव सद्यतिरित्याह—न पाणीति । परद्रव्यकीकटदेशहरणगमनस्पृही पाणिपादचपलः तद्रहितो न पाणिपादचपलः । यस्य नेत्रमिदं रम्यं इदं अरम्यमिति रूपदर्शनोत्सुकं स नेत्रचपलः तद्विपरीतो ब्रह्मभावारूढो यतिः न नेत्रचपलः । इदं स्वादु इदं अस्वाद्विति परगुणागुणप्रशंसनं वा यस्य वाक्करोति स वाक्चपलः तद्विपरीतो न वाक्चपलश्च भवति । एवंविशेषणविशिष्टस्य यतेः ब्रह्मभूतत्वात् अयं ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः सद्यतिर्भवतीत्यर्थः ॥ सद्यतेरपि शरीरत्रयविशिष्टत्वेन कोपादिवृत्तिक-
बलितत्वात् सद्यतित्वं कुतः इत्याशङ्क्य सद्यतेः कोपादिवृत्त्यसंभवमाह—
रिपाविति । रिपावरिषड्वर्गे स्वदेहे च ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति निर्विशेषब्रह्मज्ञानेन बद्धे सत्यथ समैकात्म्यं नानाविषमप्राप्तसत्तासामान्यं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यतो विवेकिनः स्वदेहावयवेष्विव कुतः कोप-
वृत्त्यवकाशः स्वातिरिक्तक्रोधादिवृत्त्यसंभवात् इत्यर्थः । स्वापकारिणमाश्रित्य खलु क्रोधवृत्तिरुदेतीति ॥ एवं चेत् स्वापकारिणि कोपे कुतस्ते कोपो नोदेतीत्याह—
अपकारिणीति । क्रोधतुल्यापकारिवैरल्यात् कोपे कोपं करोषि चेत् स्वातिरिक्त-
कलनाशान्तं ब्रह्मैव अवशिष्यत इत्यर्थः ॥ इत्थंभूतकोपाय नमोऽस्त्वित्याह—
नमोऽस्त्विति । मम कोपस्य तुच्छतया वैराग्यदायिने कोपोऽनर्थकरः इति दोषबोधिने गुरुभूताय स्वस्य कोपोपरि विलसितकोपस्य स्वाश्रयः कोपः तं भृशं
ज्वालयतीति स्वाश्रयज्वाली तस्मै स्वाश्रयज्वालिने कोपकोपाय नमोऽस्तु
कोपकोपं ब्रह्माहमस्मि इत्यनुसंधानं करोमीत्यर्थः ॥ कोपकोपिनोः स्वाज्ञस्वज्ञयोः
मिथो वैलक्षण्यमाह—यत्रेति । यत्र निर्विशेषब्रह्मविद्यायां कोपिनः स्वाज्ञ-
जनाः सुप्ता भवन्ति तत्रैव निर्विशेषब्रह्मविद्यायां संयमी कोपकोपी
स्वज्ञः प्रबुद्धो जागरूको भवति । हे विद्वन् अत्रैते कोपिनः स्वाज्ञाः यत्र

स्वातिरिक्तप्रपञ्चे प्रबुद्धा भवन्ति तत्रैव योगिराट् कोपकोपी स्वज्ञः सुषुप्तिं याति इत्यत्र—

“या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥”

इति स्मृतेः ॥ यत् एवमतस्त्वं चिदतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति सर्वं चिन्मात्रमेवेति चिन्तयेत्याह—चिदिति ॥ पूर्वमन्त्रोक्तचिन्मात्रमेवोपादेयं तदतिरेकेण त्वमहमिदमिति शब्दवाच्यं न किञ्चिदस्तीत्याह—यतीनामिति । परमहंसपटलप्राप्यत्वात् पारमहंस्यमेव परमपदं चिन्मात्रं स्वावशेषतया निष्प्रतियोगिकमित्युपादेयं तस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन तदतिरिक्तं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
याज्ञवल्क्योपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।
याज्ञवल्क्योपनिषदो व्याख्याग्रन्थस्तु सप्ततिः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तनवतिसंख्यापूरकं
याज्ञवल्क्योपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

शाध्यायनीयोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

मनसः बन्धमोक्षहेतुत्वम्

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १ ॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ २ ॥
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ३ ॥
नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम ।
विष्णुं क्रान्तं वासुदेवं विजानन् विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥
शाध्यायनीब्रह्मविद्याखण्डापारसुखाकृति ।
यतिवृन्दहृदाकारं रामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्तेयं शाध्यायनीयोपनिषत् कुटीचकबहूदकहंस-
परमहंसधर्मप्रकटनव्याघ्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो

विवरणमारभ्यते । अत्रादौ बन्धमोक्षहेतुः मन एवेत्याह—मन एवेति । यथा यन्मनो विषयासक्तं तथा ब्रह्मासक्तं चेत् तद्वान् स्वातिरिक्तभ्रमतो मुच्यत इत्याह—समासक्तमिति । किं च—चित्तमेवेति । यस्य चित्तं यस्मिन् लीनं स यच्चित्तः तन्मयः तत्स्वरूपो भवतीत्यर्थः । तं विवृणोति—नावेदविदिति । वेदविन्न भवतीत्यवेदविदज्ञः बृहन्तं विराजमहमिति न मनुते अब्रह्मवित् परमं धाम न प्रैति स्वाज्ञः सविशेषं निर्विशेषं वा ब्रह्म परोक्षत्वेनापि न जानातीत्यर्थः । तत्त्वदर्शी विप्रस्तु विष्णुं व्यापनशीलं क्रान्तं सर्वज्ञं वासुदेवं सर्वान्तर्यामिणं सर्वाधारं वा अहमस्मीति विज्ञानन् विप्रत्वं जीवन्मुक्तत्वं गच्छते गच्छतीत्यर्थः ॥ १-४ ॥

साधनचतुष्टयसंपत्तिः

अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः ।

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्योऽनूचानो ह्यभिजज्ञौ समानः ।

त्यक्तेषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥ ५ ॥

यद्ब्रह्म अकामहतप्रत्यक्षं तद्ब्रह्म यथावद्विदित्वा मौनी भवेदित्याह—
अथेति । अथ यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ह इत्यैतिह्यार्थः ये विदितपरमार्थ-
तत्त्वत्वात् श्रोत्रियाः स्वातिरेकेण कामासंभवनश्चयत्वात् अकामहताः
सनकादयो ब्रह्मादयो वा यत्सनातनं परं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमित्यधीयुः
अधीत्य ज्ञात्वा तज्ज्ञानसमकालं तत् प्राप्नुयुः परमात्मैव भवन्ति । यथोक्तसाधन-
सम्पन्नो यः कश्चन मुमुक्षुः । शान्तो दान्तः इत्यादिसाधनचतुष्टयामानित्वादीना-
मप्युपलक्षणार्थं ब्रह्मवित्कुलप्रसूतत्वादनूचानः मुमुक्षुभिः समान अभिजज्ञौ
ज्ञातवान् । ऋणत्रयापकरणादनृणस्त्यक्तेषणात्रयः संन्यासी तं परमात्मानं विदित्वाथ
मौनीभूत्वा यत्र कुत्र कुटीचकाद्याश्रमे आप्राणव्यक्षयं वसेत हिशब्दद्वयद्योति-
तार्थस्तु निर्विशेषब्रह्मज्ञानसमकालं कर्मत्रयासम्भवप्रबोधसिद्धब्रह्ममात्रतयाव-
शिष्येदिति ॥ ५ ॥

कुटीचकधर्माः

अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधानः ॥ ६ ॥

त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् ।

शिक्ष्यं पवित्रमित्येतद्विभृत्याद्यावदायुषम् ॥ ७ ॥

पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्सा मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः ।

न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥ ८ ॥

विस्फुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।

तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥ ९ ॥

त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।

निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥ १० ॥

अथादौ कुटीचकधर्मानाह—अथेति । अथ ब्रह्मचर्याद्याश्रमत्रयानन्तरम् । ब्रह्मचर्याद्यपेक्षया कौटीचकं चरमाश्रमं प्रविश्य यथोपपत्तिं यथावलं त्रिदण्डादि-पञ्चमात्रां दधानः सन् भुवं विहरेदित्यर्थः । वासः कौपीनवेष्टनमित्येकामात्रा । त्रिदण्डादिपवित्रान्तमित्येतत्पञ्चमात्रकं बहूदकादिपदमारोढुमशक्तश्चेत् यावदायुषं विभृत्यात् इत्यर्थः । किं च—पञ्चैतास्तु कुटीचकस्य यतेर्मात्राः त्रिदण्डादि-रूपाः अकारोकारमकारविन्दुनादभेदेन सा मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः ताः पञ्चमात्राः ब्रह्मणे ब्रह्मणि प्रणवे श्रुताः । एवं व्यक्ताव्यक्तात्मकपञ्चमात्रायुगं यावदायुषं विभृत्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः । जात्वपि व्यक्ताव्यक्तपञ्चमात्रायुगं न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि देहत्यागकालेऽपि स्वशरीरेण सह निखनेत् व्यक्तपञ्चमात्राः मात्रापञ्चकयुगस्य व्यक्ताव्यक्तविष्णुलिङ्गत्वेन तदन्यतरत्याग्यप्यधः पततीत्याह—विष्णुलिङ्गमिति । उक्तविष्णुलिङ्गद्वयधारणफलमाह—त्रिदण्ड-मिति ॥ ६-१० ॥

संन्यासिनां चातुर्विध्यम्, धर्मश्च

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते
परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिनोप-
वीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्ध-
चिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका
भवन्ति । तदेतद्वचाभ्युक्तम् ।

कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इति वृत्त्या च भिन्नाः ।
सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना व्यक्ताव्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥
पञ्चयज्ञा वेदशिरःप्रविष्टाः

क्रियावन्तोऽमी ब्रह्मविद्यां [श्रयन्तः] ।

त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः

संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः ।

विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता

विष्णवात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥ १२ ॥

कुटीचकादिचतुराश्रमभेदं तद्धर्मानप्याह—अथेति । तेषां धर्मानाह—
सर्व इति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः इत्यत्र कुटीचकस्य व्यक्ताव्यक्तमात्रापञ्चक-
द्वयमेव विष्णुलिङ्गत्वेनाभिहितं यत्तत् बहूदकस्यापि समं “बहूदकः कुटीचकवत्
सर्वधर्मसमः” इति श्रुते । हंसपरमहंसयोस्तु स्वाचार्यकलेबरं व्यक्तविष्णुलिङ्गं
तदन्तःकरणमव्यक्तविष्णुलिङ्गं “सुव्यक्तविष्णुलिङ्गं स्याद्देशिकेन्द्रकलेबरम् ।
अव्यक्तविष्णुलिङ्गं तु तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥” इति स्मृतेः ॥ अतः सर्वे
विष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थः । शिखिनोपवीतिन इत्यत्र कुटीचकबहूदकयोः
व्रतिवत् केशकार्पासमयशिखायज्ञोपवीतित्वं व्यक्तमुपलभ्यते “केशसमूहशिखा-

प्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतोपवीतम्” इति श्रुतेः । हंसस्य जटाधारणमेव शिखा व्यक्तरूपिणी यज्ञोपवीतं त्वव्यक्ततज्ज्ञानमित्यर्थः । परमहंसस्य तु शिखायज्ञोपवीतं चाव्यक्तं निर्विशेषब्रह्मज्ञानमेवास्य शिखायज्ञोपवीतं च भवति । तथा च श्रुतिः— “ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः” इति ॥ अत एव कुटीचकादिचतुर्णां यतीनां व्यक्ताव्यक्तभेदेन शिखायज्ञोपवीतित्वं सिद्धमेवेत्यर्थः । शुद्धचित्ता इत्यादि पुण्यश्लोका भवन्ति इत्यन्तं कुटीचकादिचतुर्णामपि समानमेवेति मन्तव्यम् । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रोऽप्यनुवदति—तदेतदृचाभ्युक्तमिति । किं च—पञ्चयज्ञा इति । पञ्चयज्ञा इत्यत्र कुटीचकपक्षे गायत्रीजपयज्ञो विशेषः प्रणवजपयज्ञस्तु चतुर्णामपि समः । प्रणवजपयोगतपःस्वाध्यायज्ञानभेदेन सर्वेऽपि पञ्चयज्ञाः वेदशिरसामुपनिषदामर्थश्रवणादौ प्रविष्टाः, “कुटीचकवहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोः मननं” इत्यादिश्रुतेः । स्वाश्रमोचितकमानुष्ठानपरा इति क्रियावन्तः अमी । परमहंसास्तु ब्रह्मविद्यां विशेषेण सेवन्ते । सर्वेऽपि ब्रश्चनाहंसंसारवृक्षं त्यक्त्वा संसारवृक्षभूलं ब्रह्म यस्य यस्य यथा ज्ञानं तथा श्रितासः संश्रिताः, संन्यस्तकर्मकाण्डगोचरवेदत्वात् संन्यस्तपुष्पाः “यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः” इति स्मृतेः । रसं सारांशमेवाश्नुवानाः “रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति” इति श्रुतेः । स्वात्तमविशेषनिर्विशेषज्ञानानुरूपेण सविशेषनिर्विशेषविष्णौ क्रीडा विष्णुरतयः बाह्यक्रीडारतिविमुक्ता विष्णुरेवात्मा येषां विष्ण्वात्मकाः सन्तो दासोऽहं सोऽहमिति वा विष्णुमेवापियन्ति विष्णोः सविशेषभावं निर्विशेषभावं वा प्रतिपद्यन्ते कृतकृत्या भवन्तीत्यर्थः ॥ ११, १२ ॥

कुटीचकानां जपयज्ञादि

त्रिसंधिं शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा ।

उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम् ॥ १३ ॥

दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतीभिश्चतुष्पदा ।

गायत्री जपयज्ञश्च त्रिसंधिं शिरसा सह ॥ १४ ॥

केवलकुटीचकजपयज्ञलक्षणमाह—त्रिसन्धिमिति । त्रिषवणस्नानं कुटीच-
कस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य भस्मस्नानं इति ।

“ परमहंसाश्रमस्थानां स्नानादेरविधानतः ।

अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ” ॥ इति,

“ स्नानं मनोमलत्यागः ” इति च श्रुतेः । व्याहृतिशिरःसंपुटिततुर्यपादाञ्चित-
गायत्रीपादचतुष्टयावर्तनं कुटीचकैः सन्धित्रयेऽपि कर्तव्यमित्यर्थः । परमहंस-
जपयज्ञस्तु सन्धित्रयेऽपि प्रणवजप एव कार्यः यदि श्रवणाधिकारी न भवति
तदा—

“ यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।

तस्य द्वादशभिर्मसैः परं ब्रह्म प्रसीदति ॥ ”

इति श्रुतेः ।

“ स्वशाखोपनिषद्गीता विष्णोर्नमिसहस्रकम् ।

श्रीरुद्रं प्रणवं चैव नित्यमावर्तयेद्यतिः ॥ ” इति,

“ प्रणवादपरं जप्त्वा कदा मुक्तो भविष्यति ॥ ”

इति स्मृतेश्च ॥ १३, १४ ॥

योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयम्

योगयज्ञः सदैकाग्र्यभक्त्या सेवा हरेर्गुरोः ।

अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥ १५ ॥

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ।

ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति तत् ॥ १६ ॥

ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ।

ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ १७ ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥ १८ ॥

अयमेव हि परमहंसजपयज्ञः । योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयं तु सर्वेषां सममित्याह—
योगयज्ञ इति ॥ १९-१८ ॥

परिव्राजकैः कर्तव्यनिरूपणम्

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा
भवन्ति । कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकारादींस्तितीर्थ
मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो
न ब्रूयात् । तदेवंविद्वांस इहैवामृता भवन्ति । तदेतद्वचाम्युक्तम् ।
बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वानवेशमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः । प्राचीमुदीचीं
वा निर्वर्तयंश्चरेत् ॥ १९ ॥

पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी

शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी ।

यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्या-

दयाचितं याचितं वाथ भैक्षम् ॥ २० ॥

मृदार्वालावूफलं तन्तुपर्ण-

पात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम् ।

क्षाणं क्षामं तृणं कन्थाजिनौ च पर्णं

आच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तम् ॥ २१ ॥

ऋतुसंधौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं

नाधो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत् ।

चतुरो मासान् ध्रुवशीलतः स्यात्

स यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥ २२ ॥

पञ्चयज्ञप्रकारमुक्त्वा अनन्तरं तेषां धर्मपूर्णं तत्फलं चोपन्यस्यति—
अथेति । तथा भवन्ति जातरूपधरा भवन्तीत्यर्थः । तैः कर्तव्यमाह—कामेति ।
ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति ज्ञानबलेन वृक्षवद्देहादावात्मात्मीयाभिमानवैकल्य-
पूर्वकं सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म, निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति यदा जानन्ति तदैवं
विद्वांसः इहैवामृता भवन्ति विदेहमुक्ता भवन्तीत्यर्थः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभि-
हितः तमेतमर्थं [सोऽर्थः] मन्त्रेणाप्युच्यते इत्याह—तदेतद्दृष्ट्वाभ्युक्तमिति । बन्धु-
पुत्रमनुमोदयित्वा पुनस्तान् जात्वपि अनवेक्षमाणः द्वन्द्वसहः प्रशान्तः
प्राचीमुदीचीं वा स्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानपूर्वकं स्वस्वरूपानुसन्धानं निर्वर्तयंश्च-
रेत् । कुटीचकादिसमुदायधर्मानाह—पात्रीति । व्यक्ताव्यक्तशिखी मुण्डी चोप-
वीती स्वदेहमात्रकुटुम्बी देहधारणोपयोगं किञ्चित् यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन् । फलं
नालिकेरकफलं तन्तुप्रथितपर्णकृतं वा पात्रं यथालब्धं गृह्णीयात् क्षाणं चनपटं
क्षामं वल्कलं तृणरचितपटं कन्थाजिन इति वक्तव्ये कन्थाजिनाविति
लिङ्गव्यत्ययः इत्थंभूतवाससालङ्कृतस्य अहतं प्रथितं तद्विमुक्तं वा पर्णमाच्छादन-
मुत्तरीयं भवेदित्यर्थः । कक्षद्वयमुच्यत इति हंसेतेरेषां क्षौरं तुल्यं हंसस्य
जटाधारित्वात् कुटीचकस्यायमेव विशेष इत्याह—जातु शिखां न वापयेदिति ।
चातुर्मास्यनियमः सर्वेषामपि तुल्य इत्याह—चतुर इति । यावद्विराट् स्वपिति
तावच्चतुरो मासान् वार्षिकानेकत्र निवसेत् । नो चेत् “पक्षा वै मासाः”
इति मासद्वयमेकत्र निवसेत् पुनरस्मिन् विराज्युत्थिते सत्यथान्यानष्टौ दश
वा मासान् स्वाश्रमोचितकर्मलिप्सुः सर्वत्र विहरेत् ॥ १९-२२ ॥

वासस्थाने नियमः

अन्यानथाष्ट पुनरुत्थितेऽस्मिन्

स्वकर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेत् ।

देवाश्चगारे तरुमूले गुहायां

वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः ।

निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो

न चोद्विजेदुद्वेजयेद्यत्र कुत्र ॥ २३ ॥

यदि श्रवणध्यानसमाधिकरणेच्छुः तदा एकत्र वा वसेत् । किमयं संसारिणामावसथे वसेत् इत्यत आह—देवेति । देवाल्यादिप्रशस्तस्थले वसेत् ; तत्रापि ममतां विहायासङ्गो भूत्वा परैरलक्षितशीलवृत्तः सन् स्वातिरिक्तभ्रमतो निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो भवेत् स्वसमानं स्वावरं वा जनं दृष्ट्वा न कदाप्युद्वेजनं कुर्यात् । यत्र कुत्रापि प्रसक्तस्वातिरिक्तधियमुद्वेजयेत् सर्वत्र स्वात्मधियं कुर्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥

आत्मज्ञानवतः स्थितिः

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।

किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २४ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्बहुञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ २५ ॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।

ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥ २६ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ २७ ॥

यावदात्मा न लभ्यते तावदेव शरीरशोषणाद्युपायानुष्ठानं कार्यम् ज्ञाते स्वावशेषधियात्मन्यथ शरीरशोषणं पोषणं वा प्रयोजनाभावान्न कार्यमित्याह—

आत्मानमिति । यथावद्ब्रह्मवेदनं निर्विद्य ब्रह्मयाथात्म्यमवगम्य स्वातिरिक्तविषये बाल्येन वैराग्येण तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत् । ततो ब्रह्मविद्यां बाल्यं च निर्विद्याथ ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति निश्चिन्त्यात्मवान् आत्ममात्रतयावशिष्येदित्यर्थः । शिष्टमन्तत्रयं बृहदारण्यकपष्ठे व्याख्यातम् ॥ २४-२७ ॥

आरुडपातित्ये प्रत्यवायः

अथ खलु सोम्येदं पारिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति स ब्रह्महा भवति स भ्रूणहा भवति स महा-पातकी भवति । य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति स स्तेनो भवति स गुरुतल्पगो भवति स मित्रध्रुग्भवति स कृतघ्नो भवति स सर्वान् लोकान् प्रच्युतो भवति । तदेतद्वचाभ्युक्तम् ।

स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी

मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् ।

व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं

त्यजन्न शुध्येदखिलैरात्मभासा ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा

यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा ।

प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो

नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा सर्वाश्रमानधीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम् ।

मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥ ३० ॥

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।

तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम् ॥ ३१ ॥

एवं ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्याथ यावदुपाधि पारिव्राज्यधर्मे स्थातव्यं तद्विहाय स्वच्छन्दं यो वर्तते स प्रत्यवैतीति तं कुत्सयति—अथेति । आत्मधर्मं यावत्स्वपरविवेकः तावद्विष्णुलिङ्गद्वयानुकरणलक्षणं यो विजहाति स वीरहा भवति ॥

“यावदुपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् ।

शुभं वाशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ।

तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः ॥”

इति,

“सप्राणमथवाप्राणं देशिकेन्द्रकलेवरम् ।

यस्मिन् देशे वसेद्योगी तां दिशं प्रणमेत् सदा ॥

यावद्देहे वसेत् प्राणस्तावच्छिष्योऽप्रमादतः ।

गुरुच्छन्दानुवर्ती चेद्वैष्णवं पदमेति सः ॥”

इति श्रुतिस्मृतिसिद्धविष्णुवाह्यान्तर्लिङ्गानुकरणलक्षणां य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति । ब्राह्मणेन यदुक्तं तन्मन्त्रा अप्यनुकुर्वन्तीत्याह—तदेतद्वाचाभ्युक्तमिति । निष्कृतेः प्रायश्चित्ततः स्वर्णस्तेयादिपञ्चमहापातकिनोऽपि शुद्धिं यान्ति ब्रह्मभावारूढदेशिकेन्द्रस्य यथोक्तलक्षणं व्यक्तं अव्यक्तं वा विधृतम् । देशिकेन्द्रस्थूलदेहपरिचरणलक्षणं व्यक्तविष्णुलिङ्गं तदा ज्ञानवशवृत्तित्वलक्षणमव्यक्तविष्णुलिङ्गं पूर्वाचार्यैरपि विधृतं अनुष्ठितं यो नानुतिष्ठति सोऽयं महापातकी अखिलैरपि प्रायश्चित्तैर्न शुध्येत् स्वात्मज्ञानमन्यत्र सर्वपातकग्रासमेव अत्र त्वयमात्माभासज्ञानेनापि न शुध्येत् । देशिकेन्द्रप्रसादं विना केनापि न शुध्येदित्यर्थः । विष्णुलिङ्गयुग्मत्यागिनः प्रायश्चित्तं नास्तीति कथमुच्यते विष्णुलिङ्गद्वयेतरस्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानात् दण्डकमण्डलुधारणलक्षणपारमहंस्याश्रमत्यागपूर्वकमवधूताश्रमपरिग्रहाद्वा देशिकोपदिष्टमन्त्रत्यागपूर्वकं प्रत्यापत्तिलक्षणा-

दाचार्यान्तरपरिग्रहधर्मानुष्ठानाद्वा शुद्धिमेत्य कृतकृत्यो भवेदित्यत आह—
त्यक्त्वेति । सर्वाश्रमत्यागपूर्वकं अप्रमादेन यतिर्मोक्षाश्रमे वसेदित्याह—
त्यक्त्वेति । स्वधर्मत्यागिन आरूढपतितत्वं निगमयति—पारिव्राज्यमिति ।
यः स्वधर्मे विष्णुलिङ्गद्वयानुकरणलक्षणे न तिष्ठति ॥ २८-३१ ॥

विष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तनम्

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा
यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति स पुण्यश्लोको भवति स
लोकज्ञो भवति स वेदान्तज्ञो भवति स ब्रह्मज्ञो भवति स सर्वज्ञो
भवति स स्वराड् भवति स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति स पितृन्सं-
वन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति ॥ ३२ ॥

शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् ।
एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विद्वान् ॥

त्रिंशत्परां त्रिंशदपरां त्रिंशच्च परतः परान् ।

उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः ॥ ३४ ॥

संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि ।

तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ॥ ३५ ॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नास-
माप्य प्रब्रूयान्नानुचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय
नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतद्वचाभ्युक्तम् ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम

गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।

असूयकायानृजवे शठाय

मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ ३६ ॥

यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं

मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक्

परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥ ३७ ॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते

विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।

यथैव तेन न गुरुर्भोजनीय-

स्तथैव तदन्नभुनक्ति श्रुतं तत् ॥ ३८ ॥

गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः ।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति ।

तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं खवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ३९ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् ॥ ४० ॥

इत्युपनिषत् ॥

एवं विष्णुलिङ्गद्वयपराङ्मुखं कुत्सयित्वाथ पूर्वोक्तविष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तिनं कृतकृत्यतया स्तौति—अथेति । स वशी जितेन्द्रियो भवति । किं बहुना स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति । ब्राह्मणोक्तार्थं मन्त्रा अप्यनुवदन्तीत्याह—शतमिति । यद्ययं विद्वत्संन्यासी भवति तदा स्वस्य शतपूर्वास्स्वोत्तरतस्त्रिशत-सन्तत्यन्ताः कृतार्था भवेयुरित्यर्थः । किंच—त्रिंशत्परानिति । आतुरा विद्वत्संन्यासतोऽपि तत्पित्रादयः सुकृतिनो भवेयुरिति निगमयति—संन्यस्त-

मिति । कृतार्थाधिष्ठितेयनिष्ठा वैष्णवी नानाधिकारिणे वक्तव्या सम्यक् चिरं परीक्ष्य संविदितसुशीलाय वक्तव्येत्याह—अथेति । स्वयमेतां निष्ठामनासाद्या-
कृतार्थस्सन्नन्यस्मै न ब्रूयात् यदि स्वयं कृतार्थस्तदा नाननूचानायेत्यादि । इमां निष्ठां न ब्रूयादिति यद्वाह्यणेनोक्तार्थं मन्त्राभ्यामप्युक्तमाहुरित्याह—इस्मेति । ब्रह्मवादिन इति शेषः । किमिति—विद्याह वा इति । कस्मै वक्तव्येत्यत्र—
यमिति । देशिकं ये न बहुमन्यन्ते तद्भुक्तगृहे यतयो भिक्षां न गृह्णीयुरित्याह—
अध्यापिता इति । ये विप्रा यतयो येन गुरुणा प्रणवमहावाक्यादिकमध्यापि-
तास्सन्तो मनोवाक्कायकर्मभिः स्वोपदेष्टारं गुरुं नाद्रियन्ते न बहुमन्यन्ते हेलनं
परिभवं वा कुर्वन्ति यथैव तेन तैर्गुरुदूषकैः साकं श्रेयोऽर्थिभिः गृहिभिः न
कदापि गुरुः भोजनीयः गुरुरपि तद्गृहे कदापि न भुङ्क्ते तथैव तदन्नं तेषां
गुरुदूषकभिक्षादायिनां निर्दुष्टानामपि तद्गृहेऽन्नं मन्ये संप्रदायप्रवर्तकाः सद्यतयो
न भुनक्ति शिष्येषु गुरुप्रसादावधि न भुनक्ति न भुङ्क्ते “एकाक्षरप्रदातारं”
इति मन्त्रेण श्रुतं तत् इत्थंप्रभाववान् गुरुः कीदृश इत्यत्र—गुरुरेवेति ।
“ओमित्येकाक्षरं परं ब्रह्म” इति श्रुतिसिद्धे एकाक्षरप्रदातारम् । तत्पक्षीया-
णामपि फलं समानमित्यर्थः । तद्विपरीतसच्छिष्यगुरुसेवापरमफलं दर्शयन्नुप-
संहरति—यस्येति । यो विष्णोर्व्यक्ताव्यक्तलिङ्गदेशिकः छन्दानुवर्ती स ब्रह्म-
विद्भूत्वा सर्वापह्नवसिद्धं परं ब्रह्म स्वमात्रमिति प्रकर्षेणेयात् प्राप्नुयात् इति
यत्तद्वेदानुशासनं सर्ववेदान्तनिश्चितमित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः शाव्यायनी-
योपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ३२-४० ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

शाव्यायनीयोपनिषद्वाख्यानं लिखितं लघु ।

शाव्यायनीवृत्तिजातं चत्वारिंशाधिकं शतम् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोनशतसंख्यापूरकं

शाव्यायनीयोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

संन्यासोपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

संन्यासविधिः

अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामः । योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्यास उच्यते । कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिः गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यं पुत्रान् बन्धून्नुमोदयित्वा । ये चास्यर्त्विजस्तान्सर्वांश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत् । सर्वस्वं दद्यात् यजमानस्य । गा ऋत्विजः । सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान् सर्वेषु समापयेत् । सशिखान्केशान् विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्तयेत् । यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेमं ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् । चतुर्षु वर्णेषु भैक्षार्च्यं चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राशनीयाद्यथालाभमशनीयात्प्राणसंधारणार्थं

यथा मेदोवृद्धिर्न जायते । कृशीभूत्वा ग्रामैकरात्रम्, नगरे पञ्चरात्रम्, चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वापि नगरे वापि वसेत् पक्षा वै मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत् । विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृहीयात् नान्यत्प्रतिगृहीयात् । यद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तं होवाच । इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानम्, विद्या सा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण । जलतीरि निकेतनम् । अस्तमित आदित्ये कथं चास्योपस्पर्शनमिति ।

यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा । तदप्येतद्विषिणोक्तम् । सक्नुद्दिवा है वास्मै भवति । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते ॥ १ ॥

संन्यासोपनिषद्वेद्यं संन्यासिपटलाश्रयम् ।

सत्तासामान्यविभवं स्वमात्रमिति भावये ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्त्यं संन्यासोपनिषत् कुटीचकादिषड्भेदधर्म-प्रकटनव्यप्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । यथोक्ताधिकारसाधनसम्पन्नानुपलभ्य श्रुतयः स्वयमेव संन्यासोपनिषदमुपन्यस्यन्तीत्याह—अथेति । अथशब्दः अधिकारिणोभानन्तर्यार्थः । यतः स्वातिरिक्त-सामान्यसंन्यासं विना निष्प्रतियोगिकस्वमात्रज्ञानं नोदेयतः तदुपायतया श्रुतयो वयं संन्यसोपनिषदं व्याख्यास्यामो विस्पष्टमाख्यास्यामो वदाम इत्यर्थः । तत्प्रकारः कथमित्यत्र—य इति । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् इत्यादि कुटीचको बहुदक्तवं प्राप्येत्यादि चानुक्रमेण य एषणात्रयं संन्यस्यति स एव

संन्यासी भवतीत्यर्थः । संन्यासं संन्यासिनं चाक्षिपति—क इति । स्वाशङ्कोत्तरं स्वयमेवाहुः—य इति । य आत्मानं वक्ष्यमाणक्रियाभिर्गुप्तं करोति । मात्राद्यनुमोदनादिवक्ष्यमाणविधिना संस्करोतीत्यर्थः । तत् कथमित्यत्र—मातरं पितरं भार्यां पुत्रान् बन्धूननुमोदयित्वा संन्यासं कर्तुमिच्छामि भवद्विराज्ञा देयेति चरमेष्टिनिर्वपनार्थं ऋत्विग्वरणं कर्तव्यमित्याह—ये चेति । ये चास्यर्त्विजः सन्ति तान् सर्वांश्च पूर्ववत् वृणीत्वा अथ तैः सह वैश्वानरेष्टिं निर्वपेन् इति । ततो यजमानस्य यावन्तः पुत्राः स्युः आत्मना सह स्वार्जितं धनं यथाविभागं विधाय स्वभागप्राप्तसर्वस्वं ऋत्विग्भ्यो देयमित्याह—सर्वस्वमिति । यजमानस्य स्वस्य सर्वस्वं ऋत्विग्भ्यो यजमानः स्वयं दद्यादित्यर्थः । ततः किमित्यत्र याज्ञीयपात्रतोऽग्निसमारोपणं कुर्यादित्याह—सर्वैरिति । ब्राह्मणजातिप्रविभक्तब्राह्मणाब्राह्मणादिचतुर्षु वर्णेषु भैक्षार्थं चरेत् । यद्यशक्तो भवति तदा शीतादिबाधाबाधकं वस्त्रं प्रतिगृह्णीयात् ; नोचेत् शीतादिजन्यक्लेशतस्तप्यते तप इति । स्वोचितवस्त्रादिप्रतिग्रहे तु स्वाश्रमोचितं तपस्सुखं तप्यत इत्यर्थः । तृषादिकार्यं निर्वर्तयन् नीरस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् तद्याश्चान कार्या (कामो मद उदपानं) इति श्रुतेः उदरपात्रेण यथालाभमश्नन् जलतीरे निकेतनं अस्ति चेत्तत्र वस्तव्यमित्यर्थः । अस्तमित आदित्ये कथं वास्योपस्पर्शनमिति । रात्रौ जलाशयस्पर्शननिषेधात् एवं चिदादित्यभावमापन्नस्य यथाहनि तथा रात्रौ । तदप्येतद्दृषिणा मन्त्रेण उक्तम् । किमिति । सकृद्दिवा हैवास्मै भवतीति । सदास्य दिवा भवतीत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते यः संन्यासज्ञानयोगेनानुसंधानं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । शिष्टं आरुणिकनारदादौ सम्यक् प्रपञ्चितमित्यर्थः ॥ ।

इति प्रथमोऽध्यायः

संन्यासाधिकारी

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशा-
सूयेर्घ्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥ १ ॥

कः संन्यस्तुमर्हतीत्याकाङ्क्षायां आदौ संन्यासाधिकारिणं निरूपयति—
चत्वारिंशदिति । साधनचतुष्टयसम्पन्न एव संन्यस्तुमर्हति इत्येतत्
नारदपरिव्राजके व्याख्यातम् ॥ १ ॥

पतितलक्षणम्

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः ।

स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति ॥ २ ॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः ।

संन्यासविघ्नकर्ता च त्रीनेतान्पतितान्विदुः ॥ ३ ॥

किंच संन्यासं करोमीति संन्यासे निश्चयं कृत्वा । यः संन्यासम-
धिक्षिपति पतितं न्यासयति संन्यासविघ्नमाचरति ते प्रत्यवायिनो भवन्तीत्याह—
संन्यासमिति ॥ २, ३ ॥

संन्यासानधिकारिणः

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः छैनो वधिरोऽर्भको मूकः
पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टो-
ऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि
महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥ ४ ॥

आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः ।

क्षयी तथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ ५ ॥

संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा ।

ब्राह्मणानामभिषक्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥ ६ ॥

व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम् ।

सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत् ॥

एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ७ ॥

संन्यासानधिकारिणो निर्दिशति—अश्रेति । शिपिविष्टः विकसित-
शेफः ॥ ४-७ ॥

संन्यासस्वीकारप्रकारः

ओं भूः स्वाहेति शिखामुत्पाद्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् ।

यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्वा ओं
स्वाहेत्यप्सु बल्लं कटिसूत्रं विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवार-
मभिमन्त्रयेत् ॥ ८ ॥

उक्तदोषरहिताः संन्यासाधिकारिणो भवन्तीत्यधिकारिनिर्णयानन्तरं तत्करण-
प्रकारमाह—ओमिति ॥ ८ ॥

संन्यस्तपुरुषस्तवः

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।

एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ९ ॥

षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च ।

कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥ १० ॥

ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः ।

प्रैषाग्निर्निर्देहेत्सर्वास्तुषाग्निरिव काञ्चनम् ॥ ११ ॥

एवं विधिवत् संन्यस्तपुरुषं ज्ञानाधिकारिणं स्तौति—संन्यासिनमिति ।
किं च—षष्टिमिति । सन्तानजा दोषाः दुष्पुत्रसंजाताः ॥ ९-११ ॥

दण्डपरिग्रहः

सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ॥ १२ ॥

यथातुरो जीवति तदा तेन यथोक्तलक्षणं दण्डादिकं स्वीकार्यमित्याह—
सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेदिति ॥ १२ ॥

दण्डलक्षणम्

दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।

पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ १३ ॥

अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम् ।

नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यतिः ॥ १४ ॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।

न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥ १५ ॥

दण्डलक्षणमाह—दण्डमिति ॥ १३-१५ ॥

कमण्डलुपरिग्रहः

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा
सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथा-
सुखं विहरेत् ॥ १६ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ १७ ॥

कमण्डलुं च परिगृह्य देशिकमुखात् प्रणवमहावाक्योपदेशं लब्ध्वा
स्वाश्रमाचारपरो भूत्वा संशयादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं वेदान्तश्रवणं कृत्वाथ
योगपट्टाभिषिक्तो मुनिः गुर्वनुज्ञया यथासुखमाप्रारब्धं विहरेदित्याह—
जगदिति । ततस्तेन धर्मादिकर्तव्याकर्तव्यबुद्धिस्त्याज्येत्याह—त्यजेति ॥ १६, १७ ॥

संन्यासिनां चातुर्विध्यम्

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्म-
संन्यासी चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥ १८ ॥

संन्यासः कतिविध इत्यत आह—वैराग्येति ॥ १८ ॥

वैराग्यसंन्यासी

तथथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्म-
वशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ १९ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य इहामुत्रार्थभोगतृष्णाविरतिमेत्य ॥ १९ ॥

ज्ञानसंन्यासी

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां
शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वां
हेयां मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञान-
संन्यासी ॥ २० ॥

ज्ञानवैराग्यसंन्यासी

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपा-
संधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञान-
वैराग्यसंन्यासी ॥ २१ ॥

कर्मसंन्यासी^१

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-
भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी^१ ॥ २२ ॥

षड्विधसंन्यासः

संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीया-
तीतावधूताश्चेति ॥ २३ ॥

कुटीचकः

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटी-
कन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरत्नत्रिशिक्यादिमन्त्रसाधन-
पर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ २४ ॥

बहूदकः

२ बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो
मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥ २५ ॥

हंसः

३ हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंकलसमाधुकरान्नाशी
कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ २६ ॥

^१ क्रमसंन्यासी इत्यपि उपादेयः पाठः स्यात्.

परमहंसः

५ परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येक-
कौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मो-
द्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥ २७ ॥

तुरीयातीतः

५ तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्बृहन्नये,
देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८ ॥

अवधूतः

६ अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगर-
वृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥ २९ ॥

“वैराग्यसंन्यासी” इत्यारभ्य “स्वरूपानुसन्धानपरः” इत्यन्तं
प्रायशो नारदपरिव्राजकोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ १९-२९ ॥

प्रत्यग्रहैक्यभावना

जगत्तावदितं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।

यद्वाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः ।

कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥ ३० ॥

जडया कर्णशङ्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया ।

शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः ॥ ३१ ॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा ।

चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥ ३२ ॥

✓ लब्धात्मा जिह्वा तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।

✓ स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥ ३३ ॥

✓ दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः ।

केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥ ३४ ॥

✓ नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः ।

पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥ ३५ ॥

✓ निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।

शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥ ३६ ॥

चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः ।

सबाह्याभ्यन्तरे व्यापि निष्कलोऽहं निरञ्जनः ।

निर्विकल्पचिदाभास एक एवास्मि सर्वगः ॥ ३७ ॥

मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।

सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ॥ ३८ ॥

मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।

तेजसान्तःप्रकाशेन यथाग्निकणपङ्क्तयः ॥ ३९ ॥

अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी ।

शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥ ४० ॥

सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने ।

प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥

कुटीचकादेः स्वरूपानुसन्धानवृत्तिः केनोपायेन जायते इत्यत्र संशयादि-
पञ्चदोषशान्त्यन्तर्मीशाद्यष्टोत्तरशतवेदान्तश्रवणं कृत्वा श्रुतार्थमननतोऽनुसन्धा-

नाख्यनिदिध्यासनवृत्तिरुदेति इत्याह—जगदिति । जगत्प्रविभक्तदेहः शब्दादयो वा त्वमसीत्यत आह—कालेनेति । लोलसत्तया लोलमनोविशिष्टया । क्षयिण्या क्षयशीलया । अचेतनः स्वातिरित्तेन्द्रियेन्द्रियार्थवैरल्यात् । चिन्मय-
दृष्टाबुदितायां प्रत्यग्ब्रह्मैक्यं भवतीत्याह—सर्वेति । पूर्वार्धस्तत्पदार्थः । उत्तरार्ध-
प्रविभक्तद्वादशारस्त्वंपदार्थः । तदुपरि विद्यमानाक्षरचतुष्टयं तु असिपदार्थः ।
“नमस्तवैक्यं प्रवदेत्” इति श्रुतेः ॥ ३०-४१ ॥

चितिशक्तिः तत्स्रुतिश्च

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया ।

चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया ॥ ४२ ॥

कालत्रयमुपेक्षित्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः ।

चितश्चैत्र्यमुपेक्षित्याः समतैवावशिष्यते ॥ ४३ ॥

सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।

नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुपयातेव शिष्यते ॥ ४४ ॥

ईहानीहमयैरन्तर्या चिदावलित मलैः ।

सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥ ४५ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।

धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥ ४६ ॥

चिद्विकल्पितं सर्वं चिदेवेत्याह—विचित्रा इति । उक्तविशेषणविशिष्टया चिता यतः पृथिव्यादिपञ्चभूतभौतिकगताः काठिन्यादिनानाविचित्रशक्तयो वर्तन्ते समा याः स्वात्मशक्तिमयाः क्रियन्ते “तत्स्रुष्टा सच्च ल्यच्चाभवत्” इति श्रुतेः । चिद्विकल्पितकाठिन्यादिशक्तयश्चिदेवेत्यर्थः । कालत्रयकलनाकलितविचित्रशक्तीनां विषमरूपाणां चैत्यत्वेन विद्यमानत्वात् विचित्रशक्तिहेतुश्चिदपि विषमा

भवितुमर्हतीत्यत आह—कालेति । कालत्रयावच्छिन्नानानवैषम्यविशिष्टचैत्य-
पटलमस्तिनास्तीति विभ्रमापह्नवकलनामप्युपेक्षित्याश्रितः कुतो विषमप्रसक्तिः
किंत्वचिदपह्नवसिद्धचितः समतैव निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते इत्यर्थः । विषम-
वागम्यचितः समता कुतः इत्यत आह—सा हीति । “यतो वाचो निवर्तन्ते”
इति श्रुत्यनुरोधेन यस्याश्रितेर्वाचामगम्यत्वात् या हि पुनश्चित् स्वाज्ञदशायां
देहाद्यतिरेकेण शाश्वतीमसत्तामापन्नेव दृष्टा या हि च पुनः स्वज्ञस्वाज्ञदृष्टि-
विकल्पितसप्रतियोगिकात्मानात्मकलना यस्मान्निर्गतापह्नवतां गता स निरात्मा
तद्भावो नैरात्म्यम् ।

“इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि ।

यस्य प्रपञ्चभानं न ब्रह्माकारमपीह न ॥”

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रतया स्थितिरेव नैरात्म्यसिद्धान्तद-
शेत्युच्यते । स्वाज्ञदृष्ट्या तु सा हि चित् नैरात्म्यसिद्धान्तदशां स्वरूपशून्यता-
मुपयातेव न हि परमार्थदृष्टेस्तथा भवितुमर्हति इवशब्दद्वयस्य परमार्थदृष्ट्यनु-
कूलत्वात् । एवं द्योत्यते हीवशब्दद्वयतः स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति निष्प्रतियोगिकं
चिन्मात्रमवशिष्यत इत्यत्र—“स्वाज्ञस्वज्ञदशायां यदेकरूपतया स्थितम् ।
तद्धि नैरात्म्यसिद्धान्तसत्तासामान्यमुच्यते ॥” इति स्मृतेः । एवं निष्प्रति-
योगिकचिन्मात्रमबुध्वा ये स्वातिरिक्तेहानीहादिकलनाकलितं जगन्मात्रं मन्यन्ते
ते धराविवरनिमग्नकीटतुल्या भवन्तीत्याह—ईहेति । निर्विशेषतया सा चिन्नो-
त्पादितुं शक्ता । येषामेवं ते ॥ ४२-४६ ॥

अमेदानुभवः

आत्मनेऽस्तु नमस्तुभ्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।

परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ॥ ४७ ॥

उद्धृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते ।

तुभ्यं मह्यमनन्ताय तुभ्यं मह्यं चिदात्मने ॥ ४८ ॥

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
 तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
 शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४९ ॥
 सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञेयश्चासवन्धुवत् ।
 शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥ ५० ॥
 न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने ।
 यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ५१ ॥
 मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते ।
 भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवलः ॥ ५२ ॥
 निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कं निरीहितम् ।
 केवलस्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः ॥ ५३ ॥
 तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
 न जाने क्व गतोऽङ्घ्रिय निरहंकारपक्षिणी ॥ ५४ ॥
 यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
 यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥ ५५ ॥
 योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
 साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५६ ॥
 येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता ।
 चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ५७ ॥
 ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।
 स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाभिधीयते ॥ ५८ ॥

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता ।
 हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ ५९ ॥
 पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
 आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति ॥ ६० ॥
 चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
 निर्मलस्कृत्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥
 सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मकी ।
 सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्ननु यत्र मनः क्षतम् ॥ ६२ ॥
 प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्मिषन्निमिषन्नपि ।
 निरस्तमननानन्दः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥
 मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूल्यनपरम् ।
 आशापाशानलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६४ ॥
 अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः ।
 नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६५ ॥
 आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ ।
 वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थितोऽस्म्यहम् ।
 निर्मलायां निराशायां स्वसंविता स्थितोऽस्म्यहम् ॥ ६६ ॥
 ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
 कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ६७ ॥
 कदोपशान्तमननो धरणीधरकोटरे ।
 समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ६८ ॥

निरंशध्यानविश्रान्तमूकस्य मम मस्तके ।

कदा तर्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ॥ ६९ ॥

संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् ।

विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ७० ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम् ।

निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥ ७१ ॥

स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।

आनन्दितोपशमता सदाप्रमुदितोदिता ।

पूर्णतोदारता सत्या कान्तिसत्ता सदेकता ॥ ७२ ॥

इत्येवं चिन्तयन्भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा ।

निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह ॥ ७३ ॥

यत एवमविद्वांसो हीयन्ते अतः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति बोधेन निर्विकल्पकब्रह्माहमस्मीत्याह—आत्मन इति । एवं प्रत्यक्परचिदैक्यं ब्रह्म भवामीति परामृष्टोऽस्मि । एवं प्रत्यगभेदेन य आस्ते सोऽयं स्वाज्ञलोकवत् तिष्ठन्नपीति । यज्ज्ञानेन मुनिर्लिप्तो भवति सोऽयमात्मा ब्रह्माहमस्मीति ज्ञातुं सुलभः । सः कुत्रासनमर्हतीत्यत्र—शरीरेति । एवमात्मानं जानतो न मे भोगस्थितौ वाञ्छा । कालकर्मसंयोगवशात् यदायाति तदायातु । एवं मनसा । पुरा स्वाज्ञदशायां स्वातिरिक्तं स्वरूपं शून्यमपि सत्यवदात्मनि प्रतिभातं इदानीं स्वज्ञदशायां तत् क्व गतं अहमेक एवावशिष्यामीत्याह—निर्भावमिति । विचार्यमाणपुरानुभूतस्वातिरिक्तं निर्भावं अवस्तुत्वात् निरहङ्कारं देहाभावात् निर्मनस्कं अमनस्कत्वात् निरीहितं ईहनीयस्य मृग्यत्वात् तथापि स्वातिरिक्तभ्रमः सत्यवत् केवलस्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः । स्थित इति भूतार्थः स्थित इति वर्तमानप्रयोगः छान्दसः । इदानीं श्रुत्याचार्य-

प्रसादतो निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रज्ञाने जातेऽथ स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रान्तिनृणा-
रज्जुगणं छित्त्वा । देहादौ नितरामहंकारममकारपक्षौ यस्याः स्वातिरिक्तभ्रान्तेः
सेयं निरहंकारपक्षिणी क गता अहमेक एवावशिष्य इत्यर्थः । यस्यैवं
देहादावहंभावो नोदेति तज्जीवितं सफलमित्याह—यस्येति । शीतलया बुद्ध्या
स्वातिरिक्तापशून्यया रागादौ सति धियस्तथात्वं कुतः इत्यत्र—रागेति ।
चित्तस्यान्ते चित्तावसाने ब्रह्मणि । स्वातिरिक्तवृत्त्यनुद्भूतिरेव तन्मोक्ष इत्याह—
ग्राह्येति । सर्वप्राणिनां वासनाविशिष्टत्वेन ग्राह्यादिशान्तिः कुतः इत्यत्र
शुद्धवासनावज्जीवन्मुक्तदृष्ट्या तच्छान्तिरुदेतीत्याह—भ्रष्टेति । ग्राह्यादिकलना-
संभवं मन्यमाना शुद्धा भवति । यत्र चित्तं न संभवति तदेव चेतनमित्याह—
चेतनमिति । यस्यां चित्ति असत्यं मनोन्मनीभावं भजति सा सन्मात्र-
रूपिणीत्याह—सेति । मानसतानवे देहादिव्यापृतौ सत्यसति संविन्मात्रोऽस्मी-
त्याह—प्रलपन्निति । स्वातिरिक्तमननानन्दः विषयजातं उत्सृज्य । किञ्च—
निर्मलायामिति । तर्णं तृणरचितम् । अचिन्मात्रापहवसिद्धिचिन्मात्रस्य
निष्प्रतियोगितैव स्वच्छतादिस्यमात्रमवशिष्यत इति ज्ञानान्निर्विकल्पब्रह्मैव भव-
तीत्याह—स्वच्छतेति । भिक्षुः स्वरूपस्थितिमजसा प्राप्य । एवं सर्व-
वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनप्रभवसम्यग्ज्ञानासिसमकालमेव स्वातिरिक्तविकल्पा-
पहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकनिर्विकल्पात्मना विद्वानवशिष्यत इति सर्ववेदान्तसिद्धान्त-
सङ्ग्रहोऽर्थः ॥ ४७-७३ ॥

आतुरसंन्यासः, संन्यासिनां प्राप्यस्थानानि च

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः । न शुद्धी-
पतितोदक्यासंभाषणम् । न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनम् । तस्मान्न
संन्यासमेकलोकः । आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकमुवर्लोकौ । बहूदकस्य
स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोलोकः । परमहंसस्य सत्यलोकः ।
तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन
भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ ७४ ॥

आतुरो यदि जीवति तदा तेन किं कार्यमित्यत्राह—आतुर इति । क्रमसंन्यासमुपेयुषः परमहंसस्य चर्या कीदृशीत्यत आह—नेत्यादि । कुटीच-
कादिषण्णां समानमेव तुरीयातीतादेः अयं विशेष इत्याह—न यतेरिति ।
यस्मादेवं तस्मात् । कुटीचकत्वादिसंन्यासभेदानुरोधेन तत्तज्ज्ञानानुरोधेन च
तत्तत्प्राप्यलोकभेदोऽपि युज्यत इत्याह—आतुरेति । मुनिः ब्रह्म संपद्यत
इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

संन्यासिभिः स्वरूपानुसंधानं विना नान्यत्किमपि कार्यम्

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारव-
द्वचर्थः । न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्र-
व्यापारो नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति, अस्ति चेच्छवालंकारवत् ।
चर्मकारविद्यादूरः । न परिव्राण्णामसंकीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति
तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत् । न देवता-
प्रसादग्रहणम् । न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

यत एवमतः स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैः तत्तत्सिद्धान्तानुरूपं फलमेति न परमार्थफलं स्पृशति “अधीत्य गौतमीं विद्यां सागार्लीं योनिमाप्नुयात्” इत्यादिकुत्सितजन्मश्रवणात् । अतः शास्त्रान्तराभ्यासस्तु उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्वचर्थः । यथा चर्मकारो विद्यादूरस्तथाऽयं परमार्थविद्यातत्फल-
विरलो भवतीत्यर्थः । एतन्नामाहमाश्रमान्तर इति परिव्राण्णामसंकीर्तनपरः
इत्यत्र “नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् । वयो वृत्तं व्रतं शीलं
ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥” इति श्रुतेः । न ह्यस्य वाक्यस्य भगवन्नामनिषेधोऽर्थो
भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिस्मृती भवतः ।

“एकाकी निस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत् ।

दद्यान्नारायणेत्येवं प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥” इति,

२८ “सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥”

इति । किंच भगवन्नामस्मृतिविरतौ प्रत्यवायश्रवणाच्च ।

“निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥”

इति । भगवन्नाम्नः प्रत्यगभिन्नब्रह्मार्थत्वात् यतिभिर्विशेषतः सदानुसंधेयमित्यत्र --

“राशब्दस्त्वीशवाची स्यान्मशब्दो जीववाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म राम इत्यभिधीयते ॥”

इत्यादिश्रुतेः,

“स्वान्या श्रयपह्नुवात् सिद्धा या मुक्तिश्चीर्विजृम्भते ।
तद्रूपतो राजमानं महः श्रीराम ईरितम् ॥”

इति नामार्थविवेकोक्तेश्च । इत्थंभूतब्रह्मनिष्ठां विना यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फल-
मनुभवति एरण्डतैलफेनवत् अतः सर्वं परित्यजेत् इहामुत्रभोगसाधने-
च्छयात्युग्रं तपः कृत्वा तदनुकूलेन न देवताप्रसादग्रहणं कार्यं इत्यर्थः ।
निष्कामबुद्ध्यानुष्ठिततपसोऽनन्तफलत्वात् न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात् । यत्प्रत्यग-
भिन्नब्रह्मबाह्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म यत्र नाबाह्यते तद्बाह्यदेवार्चनं तत् कदापि न
कुर्यात् ‘सोऽहंभावेन पूजयेत्’ इति श्रुतेः ॥ ७५ ॥

तेषां चर्यादिकम्

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो
भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत् । माधूकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा
कालं नयेत् । आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः ॥ ७६ ॥

२९ आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च ।

वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ७७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्कचित् ।

निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृहं यन्नतो ब्रजेत् ॥ ७८ ॥

✓ पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम् ।

गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निक्रान्तो न पुनर्ब्रजेत् ॥ ७९ ॥

नक्ताद्वरश्चोपवास उपवासादयाचितः ।

अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ८० ॥

नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेषदृहान् ।

नातिक्रामेद्गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते ॥ ८१ ॥

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिवहिष्कृतम् ।

ब्राह्मणस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते ॥ ८२ ॥

✓ माधूकरमसंकुल्लसं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।

तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ८३ ॥

मनःसंकल्पपरहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा ।

मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम् ॥ ८४ ॥

प्रातःकाले च पूर्वैद्युर्यज्ञैः प्रार्थितं मुहुः ।

तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि च ॥ ८५ ॥

भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम् ।

अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः ॥ ८६ ॥

उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत् ।

तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिस्तदा ॥ ८७ ॥

सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति ।
उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥ ८८ ॥
चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिस्म्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं न तु मुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि ।
याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितिम् ॥ ८९ ॥
न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा ।
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ॥ ९० ॥
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
कालेऽपराहे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ॥ ९१ ॥
अभिशास्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम् ।
वर्जयित्वा चरेद्भैक्षं, सर्ववर्णेषु चापदि ॥ ९२ ॥
घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्सुरया समम् ।
तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसंमितम् ॥ ९३ ॥
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः ॥ ९४ ॥
घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन ।
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ॥ ९५ ॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९६ ॥

माधूकरेणेत्युक्तार्थं श्रुतिरेव व्याकरोति—आत्मेति । भिक्षानियममाह--
निरीक्षन्त इति । भिक्षां दत्तवैव भोक्तव्यमिति ये निरीक्षन्ते । यथावच्छ्रुति-

स्मृत्युक्तसंस्काररहितो हि ब्राह्मणः । भिक्षां पञ्चधा विभज्य तत्रैकेन स्थितिं नयेदित्याह—माधूकरमिति । तत्र माधूकरलक्षणमाह—मन इति । प्राक्प्रणीतलक्षणमाह—प्रातरिति । अयाचितलक्षणमाह—भिक्षेति । तात्कालिकलक्षणमाह—उपस्थानेनेति । उपपन्नलक्षणमाह—सिद्धमिति । एकान्नापेक्षया भिन्नजातिमाधूकरं श्रेष्ठमेवेत्याह—चरेदिति । यतीनां अन्नदोषो नास्तीत्यत्रोपपत्तिमाह—नेति । भिक्षाविधिः ग्रामैकरात्राटनयतिविषयः । यतिरिदं मे स्यादिति इच्छापूर्वकं घृतादीन्नाश्रीयदित्याह—घृतमिति । करोदरपात्रलक्षणमाह—पाणीति ॥ ७६-९६ ॥

यतीनां वर्ज्यानि

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नम् । न देवतार्चनम् ॥ प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् ॥ ९७ ॥

मन्त्रोक्तार्थं ब्राह्मणोऽप्यनुवदति—आज्यमिति । ब्रह्मातिरेकेणाज्यादिकं नास्ति ब्रह्मैव सर्वमिति सर्वात्मभावाखण्डो मुनिः जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

षड्यतिपातकानि ; पातित्ये दोषनिरूपणं च

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः ।

दिवास्वापो वृथालापो यतीनां पातकानि षट् ॥ ९८ ॥

वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ।

उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह सङ्ग्रहः ॥ ९९ ॥

यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते ।

गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥ १०० ॥

कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः ।

शुश्रूषालभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥ १०१ ॥

शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः ।

विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्यां रात्रिरुच्यते ॥ १०२ ॥

विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ।

आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्त्तां विना तथा ।

अनुग्रहं परिग्रहं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥ १०३ ॥

एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम् ।

ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रसायनम् ॥ १०४ ॥

कथनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम् ।

क्रिया कर्मविवादश्च गुरुशास्त्रविलङ्घनम् ॥ १०५ ॥

संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुकुवस्त्रकम् ।

शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम् ॥ १०६ ॥

विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम् ।

त्यक्तं संन्यासयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥ १०७ ॥

गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम् ।

प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो ब्रजेदधः ॥ १०८ ॥

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्स्त्रीषु न विश्वसेत् ।

सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥ १०९ ॥

स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।

षडेतानि न गृहीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥ ११० ॥

नैवाददीत पाथेयं यतिः किञ्चिदनापदि ।

पक्वमापत्सु गृहीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ॥ १११ ॥

नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथे वसेत् ।

परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथंचन ॥ ११२ ॥

दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेत् ।

पक्वं वा यदि वापक्वं याचमानो ब्रजेदधः ॥ ११३ ॥

अन्नदानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही ।

आविक्रं वानाविक्रं वा तथा पटुपदानपि ॥ ११४ ॥

प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतत्येव न संशयः ।

अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्क्रायदण्डे त्वभोजनम् ।

मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥ ११६ ॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ११७ ॥

स्थयायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।

भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥ ११८ ॥

प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः ।

आत्मन्यग्नीन्सपारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ॥ ११९ ॥

प्रवृत्तिद्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी ।

ज्ञानाभ्यासवतामौतुर्वानरी भाक्तमेव च ॥ १२० ॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ॥ १२१ ॥

सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते ।

तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत् ॥ १२२ ॥

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।

तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ॥ १२३ ॥

इत्युपनिषत् ॥

मुनेरपीदं आसनादिषट्कं बन्धकं भवतीत्याह—आसनमिति । स्वकृत-
सूत्रार्थं श्रुतिः स्वयमेव व्याचष्टे—वर्षाभ्य इति । एकानादिप्रतिषिद्धधर्मा-
चरणफलमाह—एकान्नमिति । स्वस्ति प्रियवाक्यम् । ज्योतिश्च दैवज्ञत्वम् ।
एतत्सर्वं त्यक्तम् । एकानादिनिषिद्धाचरणं कदापि स्त्रियं वीक्ष्य तया सह
रहसि न संवदेदित्यत्रोपपत्तिमाह—सुजीर्णोऽपीति । केदारभृत्यबीजसुवर्ण-
विषायुधपरिग्रहं कदापि न कार्यमित्याह—स्थावरमिति । अनापदि पाथेयं
न ग्राह्यमित्याह—नैवेति । पुनर्यतेर्हेयोपादेयावाह—नीरुजश्चेत्यादि । आवसथे
संसारिगृहे । धार्य्यभावं विहाय यस्तिष्ठति स्वस्मिन् दीनोऽयं साधुरित्यनुकम्पा
भक्तिः श्रद्धा वा भूतानां यथा भवेत् तथा दैन्यभावात् साधुभावात् यतिर्भूतानां
सौभगाय श्रेयसे चरेत् कदाप्युद्वेजनं न कुर्यादित्यर्थः । यद्वा भूतानां
दैन्यभावात् तेष्वार्तत्वमवगम्य तच्छ्रेयसे यतिश्चरोदित्यर्थः । कदापि स्वदेहधारण-
मात्रेतरप्रतिग्रहं दानं वा न कुर्यादित्याह—पक्कमिति । द्वैतनदीमद्वैतनौकया
तीर्त्वा तत्पारब्रह्मभावमेत्य जीवन्मुक्तो भवेदित्याह—अद्वैतमिति । वाङ्मनः-
कायवृत्तौ सत्यां जीवन्मुक्तता कुत इत्यत्र तन्निग्रहोपायमाह—वागिति ।
बन्धहेतुः कर्मेति विदित्वा कर्मसंन्यासं कुर्वन्तीत्याह—कर्मणेति । यस्मादेवं

तस्मात् । यतीनां दुःखाभावमाह—रथ्यायामिति । निरग्रेष्यग्निहोत्रित्वमाह—
 प्रपञ्चमिति । परापरब्रह्मविषयकप्रवृत्तिः द्विधा भिद्यत इत्याह—प्रवृत्तिरिति ।
 ज्ञानाभ्यासवतां निर्विशेषब्रह्ममात्रज्ञानिनां ज्ञानसमकालस्वभावापत्तिदृष्टान्तोऽयं
 ओतुः विडालः तस्य क्षणध्यानमात्रतो लक्ष्यप्राप्तत्वात् । अपरब्रह्मविषया
 प्रवृत्तिस्तु वानरी भाक्तमेव च मर्कटमुष्टिन्यायेन क्रमेण कार्यसाधिका
 भवतीत्यर्थः । विद्वान् जडवल्ग्रेकमाचरेदित्याह—नेति । पापराशौ सति विद्वत्ता
 कुतः इत्यत्र प्रणवनिष्ठाग्निना पापकुलपर्वते भस्मावशेषितेऽथ विद्वान् भूत्वा
 ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नो भवतीति शास्त्रमुपसंहरति—सर्वेषामिति । अर्थानुसन्धान-
 पूर्वकं तारं द्वादशसाहस्रं अभ्यसेत् । तस्य द्वादशभिर्मासैः चित्तशुद्धि-
 प्राप्यज्ञानद्वारा परं ब्रह्म स्वावशेषधिया प्रकाशते इत्युपनिषत् इति ।
 द्वादशसहस्रप्रणवजपतश्चित्तशुद्धिरुदेति ततः श्रुत्याचार्यप्रसादलब्धज्ञानं भवति ।
 निर्विशेषसम्यग्ज्ञानसमकालं विद्वान् कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः
 संन्यासोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ९८-१२३ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

संन्यासोपनिषद्ब्रह्मख्या लिखिता ब्रह्मगोचरा ।

संन्यासोपनिषद्ब्रह्मख्याग्रन्थस्तु द्विशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाच्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे पञ्चषष्टिसंख्यापूरकं

संन्यासोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

नामधेयपदसूची

यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यग्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिर्बोध्यः

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
अत्रिः . . .	४०, ४६, २१४	निदाघः . . .	४७, ७६, २१५
आदित्यः . . .	१७८	नैमिशारण्यम् . . .	५५
आदिनारायणः . . .	५१, १६१	परब्रह्मपुरम् . . .	१४९
आरुणिः . . .	९, ४७, १९१, २१५	परमेष्ठी . . .	५९-२, ११७-२
ईश्वरः . . .	१७८	पितामहः ५१, ५९-२, ८२-२,	
ऋभुः . . .	४७, ७६, २१५	८७-२, १०४-२, ११३,	
ऋषभः . . .	७६	१२७, १३१, १६१	
ऐश्वराकः . . .	१९३	पिप्पलादः . . .	१४९
कैलासः . . .	१९९	प्रजापतिः . . .	९
गौतमः . . .	१९०	बृहद्रथः . . .	१९३, १९५
जडभरतः . . .	४७, १९१	बृहस्पतिः . . .	३८
जनकः . . .	४२, २१३	ब्रह्मा . . .	१५६, १६६, १६८, १७८
दत्तात्रेयः . १-२, ४७, ७६, १९१, २१५		भरद्वाजः . . .	१९०
दुर्वासाः . . .	४७, ७६, २१५	महादेवः . . .	१९९
नारदः ५५, ५६, ५९-५, ६१,		मैत्रेयः . . .	१९९
८२, ८७, १०४, ११०,		याज्ञवल्क्यः ३८-३, ४०-२,	
११२-२, ११३, ११७, १२७, १७१		४२-३, ४५, ४६-४, १९०,	
नारायणः . . .	३४, ५१-२, १६६	२१३, २१४-२	

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
स्त्रः	१५६, १७८	शौनकः	१४९, १६०
रैवतकः	४७, ७६	श्वेतकेतुः	४७, ७६, १९१, २१५
वसिष्ठः	१९०	सहस्रः	१९३
वामदेवः	१९१, २१५	साङ्कृतिः	१
विष्णुः	१५६, १६८, १७८-२	संवर्तकः	४७, ७६, १९१, २१५
शाकायन्यः	१९३, १९५	हारीतकः	१९१, २१५
शुकः	१९१, २१५		

विशेषपदसूची

यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यग्नेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिर्बोद्ध्याः

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
अकल्पितभिक्षाशी	१३४	अन्धस्वरूपम्	१२९
अकारः	१२१	अनाहतमन्त्रः	१४६
अकारांशः	१६७	अनाहताङ्गी	१३६
अक्षयम्	१३४	अनिमित्तसंन्यासः	९०-२
अग्निवर्णम्	२९	अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः	१३५
अग्निष्टोमः	१९	अनुसन्धानम्	१०७, ११७
अग्निहोत्री	२५८	अन्तर्जीवन्नहा	१५५
अङ्कुशः	१३५	अन्तर्दिशखोपवीतित्वम्	१५४
अजगरवृत्तिः	९४, ११६	अन्तस्तत्त्वमेलनम्	१५४
अजपा	१३५	अन्तःप्रणवः	११७, १२०-२
अजिनम्	११६	अन्धः	७१
अजिह्वः	७०	अपरसन्धि	१५१
अज्ञाननिर्मान्यम्	१९९	अभयम्	१२
अतिवर्णाश्रमी	१०९-२, ११०	अभोजनम्	२५८
अद्वैतग्रन्थिः	१५६	अभ्यङ्गम्	२५६
अद्वैतसदानन्दः	१३५	अभ्रगजादितुल्यम्	१३५
अध्यात्ममन्त्राः	३१	अमरपदम्	१३५
अनन्तावयवाकारः	१२०	अमृतः	४२, २२८, २३०

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
अमृतकल्लोलनदी	१३४	आत्मनिष्ठा	२३४
अमृतकल्लोलानन्दक्रिया	१३५	आत्मविद्यातपोमूलम्	१८७
अमृतत्वम्	३, १२७	आत्मश्राद्धम्	१६३
अयज्ञोपवीती	७४	आत्महा	१७३
अयनक्षौरम्	११६	आत्मा	४०-२, १२९, १९५-२
अयाचितम्	२५४	आत्मारामः	३७
अयुतावयवान्वितः	१२०	आदानम्	१०६
अर्थाः	१९५	आदिब्रह्म	१३५
अर्धमात्रः	१२१	आनन्दः	२, १८७
अर्धमात्राप्रणवः	११७	आनन्दग्रहणम्	१०६
अर्धमात्रांशम्	१६७	आनन्दभिक्षाशी	१३५
अलाबुपात्रम्	१३	आनन्दमाला	१३४
अवधूतः १-२, २, ५२, ९२, ९४, २४४		आनन्दवनम्	१३५
अवधूतमार्गस्थः	५१	आन्तरप्रणवः	११६
अवस्था	१०४, १०५, १०७	आख्द्व्युतः	२३२
अविमुक्तम्	३८-२, ४०-३, ४१	आर्षप्रणवः	११८
अव्यक्तम्	२२४	आसनम्	२५६
अष्टश्राद्धम्	८३	उकारांशः	१६७
असिपत्रवनश्रेणी	६८	उत्पत्तिप्रणवः	१२०
अस्वप्नः	१६५	उत्सर्गः	१०६
अहंब्रह्म	१८	उदरपात्रम्	१४
आकाशाधारम्	१३५	उदासीनकौपीनम्	१३४
आग्नेयी	१६२	उन्मनी	१२१, १३५
आज्यम्	२५६	उन्मन्यवस्था	१३५
आतुरः	६३, ९०	उपदेशाधिकारः	११६
आतुरकालः	६२	उपपन्नम्	२५५
आतुरकुटीचकौ	९४	उपस्पर्शनम्	२३७
आत्मचिन्ता	१०६	ऊर्ध्वपुण्ड्रम्	११६

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
ऊर्ध्वपुण्ड्रिपुण्ड्रम्	११६	कल्पविद्भूगः	३४
ऊर्ध्वाम्नायः	१३४	काठिन्यदृढकौपीनम्	१४६
ऋतुक्षौरम्	११६	कामकामी	४
ऋतुद्वयक्षौरम्	११६	कामादिद्विदहनम्	१४६
ऋषिः	१३४	कालसूत्रपदवी	६८
एककौपीनम्	११६	कुटीचकः ९१, ९३, १९०, २२५-२, २४३	
एकत्रात्रम्	२५६	कुण्डलिनीबन्धः	१३५
एकदण्डी	८०, ९७, १७३-२	कुक्षेत्रम्	३८-३
एकयज्ञोपवीती	१६०	कृतकृत्यत्वम्	५
एकवारम्	११५	केलिः	१३४
एकशाटी	११६	केदलः	२४८
एकान्तम्	२०२	कैत्रल्यम्	८१, ९४, १३२, २५१
एकान्तस्थानमठम्	१३५	कैत्रल्याश्रमः	६५-४
एकान्तम्	११६, २५५	कौपीनम्	१२
एकासनगुहा	१३४	कौपीनाधारम्	८६
ओम् हि	१४-३	क्रमसंन्यासः	९०, २५१
कथा	१३६	क्रीडारतिः	१०६
कन्था	१३५	क्रौर्यबुद्धिः	१०६
करपात्रम्	११६	क्षारम्	२५६
करुणा	१३४	क्षीरम्	२५५
कर्म	६४	खण्डम्	११६
कर्मनिर्मूलनम्	१३६	खेचरीमुद्रा	१३५
कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यम्	१०४	गगनसिद्धान्तः	१३४
कर्ममर्मज्ञाता	१४९	गतिः	१३५, १९४-२
कर्मसंन्यासः	८८	गन्धः	२४५
कर्मसंन्यासी	८९, ९०, २४२, २४३	गन्धलेपनम्	२५६
कला	१२१	गायत्री	१३५
कलातीता	१२१	गार्हस्थ्यम्	५६

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
गुहा	३०	जाग्रतैजसः	१६७
गुहाच्छादकम्	८६	जाग्रत्प्राज्ञः	१६७
गोदोहमात्रम्	२५४	जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिपुरीयाः	१०४
गोवालसदृशम्	२	जाग्रद्विश्वः	१६७
गोमुखम्	९४, ११६	जातरूपधरत्वम्	११६
ग्रामः	६९, ११४	जितेन्द्रियः	६७, १००-२
घृतम्	२५५	जीवः २५-२, १०६-३, १०७,	
चतस्रोऽवस्थाः	१६७	१८६, १९९	
चतुरङ्गुलवेष्टनम्	१५६	जीवत्वम्	१०७-२
चतुरवस्था	१५६	जीवन्मुक्तः ९६, १०४, १३५, २५६	
चतुर्दशकरणप्रवृत्तिः	१६३	जीवन्मुक्तत्वम्	२५८
चतुर्विधब्रह्मचर्यम्	५७	जीवितम्	२४८-३
चतुष्पदम्	२	ज्ञातचरदेशः	२५६
चतुष्पादं ब्रह्म	१७७	ज्ञानम् ६४, १०४, १०६,	
चत्वारि स्थानानि	१७७	१५९-२, १८३-२, १९९	
चातुर्विध्यवानप्रस्थधर्मः	५७	ज्ञानदण्डाः	२२७
चित्	२१९-६, २४६	ज्ञानपरः	८०
चित्तम्	१९५-३, २२२	ज्ञानमयी	१६०
चिन्मयम्	१३५	ज्ञानमयीशिक्षा	१८३
चिराजिनदासः	१४६	ज्ञानयज्ञः	२२७
जगज्जीवनम्	८६, २४१	ज्ञानयज्ञोपवीतिनः	२२७
जडवत्	२५९	ज्ञानश्रद्धः	२०४
जनः	२३	ज्ञानवैराग्यसंन्यासः	८८-२
जन्ममृत्युप्रहाणिः	१२८	ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ८९, २४२, २४३	
जल्लङ्कामाववत्	१५१	ज्ञानशिक्षाः	२२७
जागरितम्	९५, १८६	ज्ञानसंन्यासी	८९, ९०, २४२-२
जाग्रत्	१०५	ज्ञाज्ञौ	१२८
जाग्रतुरीयः	१६७	ज्येष्ठः ज्येष्ठव्यवधानरहितः	१६९

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
तत्त्वचिन्ता	२०३	त्रिषदणस्नानम्	११५
तत्त्वस्वरूपम्	१३५	त्रैधातवीया . ४४, ७३, १६२, २१३	
तपः	३५	त्वं ब्रह्म	१८
तपोयज्ञः	२२७	दण्डः	१२
तपोलोकः	९४, २५१	दारुणात्रम्	१३
तात्कालिकम्	२५४	दिगम्बरम्	११६
तारम्	२५९	दिशस्वापः	२५७
तारकम्	११७	दीक्षा	३२
तारकं ब्रह्म	३८	दीक्षासंतोषपात्रनम्	१३४
तारकोपदेशः	१३५	देवता	१३४
तिलकपुण्ड्रम्	११६	देवयजनम्	३८-३
तीर्थभ्रान्तिः	२०३	देवात्मशक्तिः	१२७
तुरीयम्	९५, १८६	देवार्चनम्	११६
तुरीयतैजसः	१६७	देहः १९९, २००-३, २४४	
तुरीयप्राज्ञः	१६७	द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षः	१५६
तुरीयविश्वः	१६७	द्वादशादित्यादलोकनम्	१३४
तुरीयस्य चातुर्विध्यम्	१६७	द्वितीयः पादः	१२४
तुरीयातीतः ९२, ९४, २४४		द्विवारम्	११५
तुर्यतुरीयः	१६७	द्वैतभावनम्	२०१
तुर्यातीतत्वम्	१०५	धनवान्	१३२
तृतीयः पादः	१२५	धन्योऽहम्	७, १६
तैजसः	९५	धर्मलक्षणम्	६५
तैजसस्य चातुर्विध्यम्	१६७	धीरः	१२९
तैलम्	२५५	धैर्यकथा	१३४
त्यागः	१३५	ध्यानम्	१९९
त्रिदण्डी	१०९	ध्याननिष्ठा	१६९
त्रिपुण्ड्रम्	११६	ध्यानाधिकारः	११६
त्रिवृत्सूत्रम्	१८०	ध्रुवशीलः	१३

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
नगरम् . . .	११४-२	पङ्गुः . . .	७१
नगरायते. . .	६९	पञ्चपादब्रह्म . . .	१५५
नरः . . .	२३	पञ्चमात्रा . . .	२२४
नवतत्त्वम् . . .	१५६	पञ्चयज्ञाः. . .	२२५, २२६
नाडीत्रयम् . . .	१५१	पञ्चविंशतितत्त्वानि . . .	१०४
नादः . . .	१२१, १५७	पण्डकः . . .	७०
नारकी . . .	७९	पतितः . . .	२०३, २३९
नासी . . .	४०, ४१	पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् . . .	१३५
नित्यविनिश्चलः . . .	३४	पन्थाः . . .	१६३
निदिध्यासनम् . . .	३१, ११७	परमहंसः ४९, ९१, ९३, ९४, १३४, १७२, १७३, १९१, २१५-२, २२५-२, २४४	
निद्रालस्यौ . . .	१०६	परमहंसपरित्राजकः . . .	१६५, १६९
निमित्तसंन्यासः . . .	९०-७	परमहंसपरित्राट् . . .	१६९
निरञ्जनम् . . .	१३४	परमानन्दपूर्णः . . .	५
निरहङ्कारपक्षिणी . . .	२४८	परमानन्दी . . .	१३५
निरालम्बपीठम् . . .	१३४, १३५	परमार्थता . . .	४
निर्गुणगुणत्रयम् . . .	१३५	परमेश्वरः . . .	१९५, २१६
निर्गुणप्रणवः . . .	१२०	परमेश्वरसत्ता . . .	१३५
निर्देशभूतकन्यायः. . .	९६	परसन्धि . . .	१५१
निर्मलगान्त्रम् . . .	१३५	परा . . .	१२१
निर्वाणः . . .	१३४, १७९	परापरविदः . . .	३६
निर्वाणदर्शनम् . . .	१४८	परापवादमुक्तः . . .	१३५
निर्विकल्पः . . .	२५०	परावरसंयोगः . . .	१३५
निष्कुलप्रवृत्तिः . . .	१३४	परावरैक्यरसास्त्रादनम् . . .	१३५
निष्केवलज्ञानम् . . .	१३४	परित्राजकाः . . .	१३४
निष्कैगुण्यस्वरूपानुसन्धानम् . . .	१४६	परित्राट् . . .	६१, १३२-२, २३३
निस्संशयः . . .	१३४	परेच्छाचरणम् . . .	१३४
नीचयतिः . . .	१०९		
नैरात्म्यसिद्धान्तदशा . . .	२४६		

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
परं ब्रह्मज्ञवदाचरणम्	१४७	प्राक्प्रणीतम्	२५४
पवित्रम्	३२	प्राजापत्या	४४, १६२
पश्चिमलिङ्गाः	१३४	प्राज्ञः	९५
पश्यन्ती	१२१	प्राज्ञस्य चातुर्विध्यम्	१६७
पाणिपात्रम्	१४	प्राणदेवताः	१५१
पाण्डुरगगनमहासिद्धान्तः	१३५	प्राणहंसः	१५२
पातकानि	७१, २५६	प्राणायामः	२५८
पातित्यम्	६३	प्रापञ्चिकशिखोपवीतम्	१५७
पात्रलोपः	२५७	प्रियम्	२
पापबुद्धिः	१०६	प्रैषाभिः	२४१
पारविवर्जितः	३४	प्रैषोच्चारणम्	१६४
पारहंस्यम्	२२०	फलम्	२५-२
पुण्यावृत्तिः	१०६	बधिरः	७१
पुरी	१२१	बहिस्सूत्रम्	१५९, १६०, १८१, १८२
पूजा	२०४	बहुकृत्यम्	४
पौलकसः	१७३	बह्वदकः ९१, ९३, ९४, १९१,	
प्रणवः	१५७-२	२२५-२, २४३	
प्रजापतिः	१७	बाह्यप्रणवः	११८
प्रणवहंसः	१५२	बाह्यार्चनम्	२०४
प्रणामः	२१६	विन्दुः	१२१
प्रतिषिद्धानि	७८, २५७	बुद्धिः	१०४, १०६
प्रतिष्ठा	९८	ब्रह्म २२-४, २३, ३३, ३५-२,	
प्रत्यक्चेतनम्	२४९	४५, ६४, ७३, १०७, १२०,	
प्रथमः पादः	१२४	१२३-२, १२८, १५७,	
प्रमाणम्	२५-२	१६७, १७९, २०८, २१४,	
प्रमाता	२५-२	२२३, २३०, २३३, २४०, २५९	
प्रमेयम्	२५-२	ब्रह्मम्	१२८-२
प्रमोदः	२	ब्रह्मचक्रम्	१२७

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम् . . .	१४७	भैक्षभुक् . . .	६४, ६५-२
ब्रह्मचारिणः . . .	४२	भ्रमरकीटन्यायः ७६, ९४, १०३,	
ब्रह्मत्वम् . . .	१५२		१०४, २५१
ब्रह्मपुच्छम् . . .	२, २३	भ्रान्तिहननम् . . .	१४६
ब्रह्मप्रणवः ११६, ११७, ११८,		मकारः . . .	१२१
१२२, १२६, १६६-२, १६७		मकारांशः . . .	१६७
ब्रह्मभूतः . . .	२१९	मठः . . .	१३५
ब्रह्मभूयसे . . .	१००	मधु . . .	२५५
ब्रह्मसदनम् . . .	३८-३	मध्यमा . . .	१२१
ब्रह्मसूत्रम् . . .	१०, १५९	मनः . . .	१०४, १९५, २२२
ब्रह्मस्वरूपम् . . .	१२७	मननम् . . .	११७
ब्रह्महा . . .	१७३	मनोनिरोधिनी . . .	१३५
ब्रह्माकाशः . . .	१२६	मनोन्मनी . . .	१२१
ब्रह्माखण्डाकारम् . . .	१४७	मनोवागगोचरम् . . .	१३५
ब्रह्माण्डादि . . .	२२	मन्त्रचिन्ता . . .	२०३
ब्रह्मानन्दः . . .	२४	मन्त्रजपाधिकारः . . .	११६
ब्रह्मावलोक्योगपट्टः . . .	१३४	मन्मथक्षेत्रपालाः . . .	१३४
ब्राह्मणः . . .	८१	महामखः . . .	३
भगवान् . . .	२१६	महायोगः . . .	३
भस्मस्नानम् . . .	११५	महावाक्यम् . . .	१६४
भस्मोद्धूलनम् . . .	११६	महावाक्योपदेशाधिकारः . . .	११६
भास्यविलक्षणः . . .	३४	महावीचिवागुरा . . .	६८
भिक्षाचरणम् . . .	२५५	महाव्रतम् . . .	४
भुवर्लोकः . . .	२५१	महाश्मशानम् . . .	१३५
भूतः . . .	१५१	मात्राः . . .	२२४
भूतात्मा . . .	१९५	मात्वम् . . .	१९
भूर्लोकः . . .	२५१	माध्वकर्म . . .	११६, २५४
भैक्षम् १९९, २०१-२, २५४-२, २५५		मानसस्नानम् . . .	११५

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
मानसार्चनम्	११६	यथोक्तः	६९
मालुप्रणवः	११६	यन्मन्युः	३१
मायाममताहङ्कारदहनम्	१३६	यन्मृत्युः	२०
मार्गः	१३५	यादृच्छिकः	७५, ११२
मार्जारी	२५९-२	योगयज्ञः	२२७
माषापूपादि	२५५	योगी	४
मित्राह्लादकम्	२५६	रज्जुसर्पवत्	१३५
मिथुनम्	६९	रसः	२४५
मुक्तः ५७-२, १३१-२, २०१, २०४		रसास्वादनम्	१०६
मुक्तस्य लक्षणम्	६९	राजधानी	२५६
मुक्तासनमुखगोष्ठी	१३४	रूपम्	२४५
मुक्तिः	२०२	रूपग्रहणम्	१०५
मुग्धः	७१	लौकिकम्	२००
मुमुक्षुः	१११	वरणा	४०, ४१
मूढः	२०३	वस्त्रम्	२५६
मृत्पात्रम्	१३	वागव्यापारः	१०६
मैत्रः	१११	वानप्रस्थाश्रमः	५६
मैथुनमष्टाङ्गम्	२१	वानरी	२५९-२
मोक्षः	१४६	वायव्यस्नानम्	११५
मोक्षसाधनम्	१६०	वासना	२४९
मोक्षाश्रमः	२३१-२	विकारदण्डः	१३५
मोदः	२	विक्षेपः	६-२
मौनम्	२५८	विचारदण्डः	१३४
यज्ञोपवीतम् ४६, ८५-२, १६७		विदेहमुक्तिः	१६७
१६८, १८१, १८४, २३७		विद्वत्संन्यासी	८५
यतिविशेषः	९३	विभुः	२४४
यतिवृत्तिहा	९७, १७३	वियोगोपदेशः	१३४
यतेर्नियमः	११३	विरजाहोमः	१६३

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
विराट्	१२०	शतावयवोपेतः	१२०
विराट्प्रणवः	११८, १२०, १२१	शब्दः	२४४
विविदिषासंन्यासी	८६	शब्दग्रहणम्	१०५
विवेकरक्षा	१३४	शरीरम्	८४, १९४
विवेकलभ्यम्	१३५	शरीरत्रयम्	७६
विश्वः	९५	शवालंकारवत्	९६, २५२
विश्वमायानिवृत्तिः	१२८	शाटीद्वयम्	११६
विश्वरूपः	२२९	शान्तिः	१०६, १२१, २४८-२
विश्वस्य चातुर्विध्यम्	१६७	शान्तिदान्ती	१०४
विश्वायमनुसंयोगम्	३२	शान्त्यतीता	१२१
विश्वासः	२०२	शारदाचेष्टा	१३५
विष्णुलिङ्गम्	२३१-२	शाश्वतम्	१८५
विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम्	१३५	शास्त्रचिन्तनम्	२०३
वृथाजल्पः	२५७	शिखा	१३५, १८४, २३७
वेदपुरुषः	५१, १६९, १७१	शिखी	७४, १५९, १८३
वेदयोनिः	१५२	शिवम्	१३०
वेदानुशासनम् २२४, २२८, २३२,	२३३, २३४	शिवयोगनिद्रा	१३५
वैणवम्	२४१	शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम्	१३५
वैराग्यम्	१०४, १०६	शिष्यसंग्रहः	२५७
वैराग्यसंन्यासः	८८	शीतवातोष्णत्राणकरम्	८६
वैराग्यसंन्यासी	८८, ९०, २४२-२	शुक्लध्यानपरायणः	७६, १९१
वैश्वानरोष्ठिः	२३६	शुद्धम्	२५-२
व्यक्तम्	२२४	शुद्धचेतनः	२३५
व्यवहारः	६-२	शुद्धशौचम्	२००
व्यापाराः	१०५	शून्यम्	१३५
व्यावहारिकप्रणवः	११८	शयः	१७
शतसूत्रीयम्	४२	शौचम्	१९९, २०१-२
		श्रवणम्	११७

विशेषपदसूची

२७३

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
षट्पदवृत्तिः	१३२	सर्वलोकात्मकः	५
षड्भिरहितः	११४	सर्वविद्या	१८०
षड्भावविकारशून्यः	११४, १६९	सर्वविन्न्यासः	१४७
षड्विधगार्हस्थ्यम्	५७	सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारः	२५
षण्णवतितत्त्वानि	१५६	सर्वसन्देहनाशनम्	१४७
षोडशमात्रात्मकः	१६६	सर्वोत्तमः	१०९
षोडशमात्रात्मकत्वम्	१२१	सहस्रावयवान्वितः	१२०
षोडशमात्रारूढाः	१६७	साक्षी	६, १०७, १८५
सङ्केतः	१३५	साधनचतुष्टयसंपन्नः	५७, २३९, २४२
सच्चिदेकरसः	१२५	मुखम्	१८५
सच्चयः	२५७	सुवर्णम्	२५६
सञ्चारः	१०६	सुषुप्तम्	९५, १०५, १२४,
सत्यलोकः	९४, २५१		१२५-२, १८६
सत्यसिद्धियोगः	१३५	सुषुप्ततुरीयः	१६७
सत्त्वम्	१९५	सुषुप्ततैजसः	१६७
सदानन्दस्वरूपदर्शनम्	१३५	सुषुप्तप्राज्ञः	१६७
सद्यतिः	७७	सुषुप्तविश्वः	१६७
सनामधेयः	२९	सुषुप्तरथेनाकाशवत्	१५१
सन्ततोक्षिकमण्डलम्	१३६	सूत्रम् ७४-६, १५८-३, १५९-५,	
सन्धानम्	१५७		१८१-४, १८२, १८३-२
सन्ध्या	४१, १७३, २०२	सूत्रविदः	१५९
सपवित्रम्	१६९	सूपम्	२५५
सप्तविंशतितत्त्वसंबन्धः	१५६	सूरयः	२०४
सभास्थलम्	२५६	सृष्टिप्रणवः	११७
समता	२४६	सोऽहम्	१३४
समयः	१४६	सोऽहंभावः	१९९
समाधिः	६-२	सोऽहंभावना	१९६
सर्वभूतान्तर्वर्ती	१३४	संन्यस्तः	२३६

पदम्	पुटसंख्या	पदम्	पुटसंख्या
संन्यस्तपुष्पाः :	२२५	स्वप्नप्राज्ञः . . .	१६७
संन्यासः ८७, १४७, १६४, २०२, २३६		स्वप्नविश्वः . . .	१६७
संयोगदीक्षा . . .	१३४	स्वप्नकाशशङ्कतत्त्वम् . . .	१३५
संविन्मात्रपरः . . .	२४९-३	स्वरूपस्थितिः . . .	२०५
संसारणम् . . .	१, ३	स्वरूपानुसन्धानम् . . .	१३२
संसारतारकम् . . .	११७	स्वर्गलोकः . . .	९४, २५१
संहारः . . .	१००	स्वर्ग्यः . . .	१८
संहारप्रणवः . . .	११७, ११८	स्वसंवित् . . .	१३५
स्त्री . . .	२५६	स्वहृदयार्चनम् . . .	२०४
ज्ञानम् . . .	१९९, २००-४	स्वाध्याययज्ञः . . .	२२७
स्पर्शः . . .	२४४	स्वानुभवः . . .	२०८
स्पर्शग्रहणम् . . .	१०६	स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः . . .	१३५
सृष्ट्या . . .	२५६	स्वान्तस्मृत्रम् . . .	१६०
स्वधर्मः . . .	७८	स्वेच्छाचारस्वभावः . . .	१४६
स्वप्नम् . . .	९५, १०५, १८६	हृदयम् . . .	१७७
स्वप्नजगत् . . .	१३५	हंसः ९१, ९३, ९४, १२७, १३४	
स्वप्नतुरीयः . . .	१६७	१५७, १९१, २२५-२, २४३	
स्वप्नतैजसः . . .	१६७	हंसाचारः . . .	१३४

ब्रह्मादिमुक्तिकान्तानां (९८) उपनिषदामकारादिक्रमः

संख्या	उपनिषदां नामानि	ईशादिसंख्या	संपुटनाम	पुटसंख्या
१.	अक्षमालिकोपनिषत्	६७	शैव०	१
२.	अक्षयुपनिषत्	७२	सामान्यवे०	१
३.	अथर्वशिखोपनिषत्	२३	शैव०	१०
४.	अथर्वशिर उपनिषत्	२२	शैव०	२०
५.	अद्वयतारकोपनिषत्	५३	योग०	१
६.	अध्यात्मोपनिषत्	७३	सामान्यवे०	१२
७.	अन्नपूर्णोपनिषत्	७०	सामान्यवे०	२६
८.	अमृतनादोपनिषत्	२१	योग०	११
९.	अमृतविन्दूपनिषत्	२०	योग०	२६
१०.	अवधूतोपनिषत्	७९	सन्न्यास०	१
११.	अव्यक्तोपनिषत्	६८	वैष्णव०	१
१२.	आत्मबोधोपनिषत्	४२	सामान्यवे०	९८
१३.	आत्मोपनिषत्	७६	सामान्यवे०	९०
१४.	आख्ययुपनिषत्	१६	सन्न्यास०	९
१५.	एकाक्षरोपनिषत्	६९	सामान्यवे०	१०६
१६.	कठरुद्रोपनिषत्	८३	सन्न्यास०	१७
१७.	कलिसन्तरणोपनिषत्	१०३	वैष्णव०	१६
१८.	कालामिहोपनिषत्	२८	शैव०	३९
१९.	कुण्डिकोपनिषत्	७४	सन्न्यास०	२७
२०.	कृष्णोपनिषत्	९६	वैष्णव०	२१
२१.	केवल्योपनिषत्	१२	शैव०	४६
२२.	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्	२५	सामान्यवे०	१११
२३.	क्षुरिकोपनिषत्	३१	योग०	३६

संख्या	उपनिषदां नामानि	ईशादिसंख्या	संपुटनाम	पुटसंख्या
२४.	गणपत्युपनिषत्	८९	शैव०	५८
२५.	गरुडोपनिषत्	१०२	वैष्णव०	३२
२६.	गर्मोपनिषत्	१७	सामान्यवे०	१६८
२७.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्	९५	वैष्णव०	४१
	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्	९५	वैष्णव०	५८
२८.	जाबालोपनिषत्	१३	सन्न्यास०	३८
२९.	जाबाल्युपनिषत्	१०४	शैव०	६५
३०.	तारसारोपनिषत्	९१	वैष्णव०	७८
३१.	तुरीयातीतावधूतोपनिषत्	६४	सन्न्यास०	५१
३२.	तेजोविन्दूपनिषत्	३७	योग०	४५
३३.	त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्	५२	वैष्णव०	८६
३४.	त्रिपुरातापिन्युपनिषत्	८०	शाक्त०	११
३५.	त्रिपुरोपनिषत्	८२	शाक्त०	१
३६.	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्	४४	योग०	११६
३७.	दत्तात्रेयोपनिषत्	१०१	वैष्णव०	१५९
३८.	दर्शनोपनिषत्	९०	योग०	१५२
३९.	दक्षिणामूर्त्युपनिषत्	४९	शैव०	७०
४०.	देव्युपनिषत्	८१	शाक्त०	५३
४१.	ध्यानविन्दूपनिषत्	३९	योग०	१८६
४२.	नादविन्दूपनिषत्	३८	योग०	२१४
४३.	नारदपरिव्राजकोपनिषत्	४३	सन्न्यास०	५५
४४.	नारायणोपनिषत्	१८	वैष्णव०	१६७
४५.	निरालम्बोपनिषत्	३४	सामान्यवे०	१८१
४६.	निर्वाणोपनिषत्	४७	सन्न्यास०	१३४
४७.	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्	२७	वैष्णव०	१७४
	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्	२७	वैष्णव०	२२३
४८.	पञ्चब्रह्मोपनिषत्	९३	शैव०	७९
४९.	परब्रह्मोपनिषत्	७८	सन्न्यास०	१४९
५०.	परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्	६६	सन्न्यास०	१६१
५१.	परमहंसोपनिषत्	१९	सन्न्यास०	१७१
५२.	पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	७७	योग०	२२७
५३.	पैङ्गलोपनिषत्	५९	सामान्यवे०	१९२

संख्या	उपनिषदां नामानि	ईशादिसंख्या	संपुटनाम	पुटसंख्या
५४.	प्राणामिहोत्रोपनिषत्	९४	सामान्यवे०	२१७
५५.	बृहृचोपनिषत्	१०७	शाक्त०	६१
५६.	बृहज्जाबालोपनिषत्	२६	शैव०	८७
५७.	ब्रह्मविद्योपनिषत्	४०	योग०	२४९
५८.	ब्रह्मोपनिषत्	११	संन्यास०	१७७
५९.	भस्मजाबालोपनिषत्	८७	शैव०	१२९
६०.	भावनोपनिषत्	८४	शाक्त०	६८
६१.	भिक्षुकोपनिषत्	६०	संन्यास०	१९०
६२.	मण्डलब्राह्मणोपनिषत्	४८	योग०	२७३
६३.	मन्त्रिकोपनिषत्	३२	सामान्यवे०	२२५
६४.	महावाक्योपनिषत्	९२	योग०	३०१
६५.	महोपनिषत्	६१	सामान्यवे०	२३४
६६.	मुक्तिकोपनिषत्	१०८	सामान्यवे०	३४५
६७.	मुद्गलोपनिषत्	५७	सामान्यवे०	३७८
६८.	मैत्रायण्युपनिषत्	२४	सामान्यवे०	३८८
६९.	मैत्रेय्युपनिषत्	२९	संन्यास०	१९३
७०.	याज्ञवल्क्योपनिषत्	९७	संन्यास०	२१३
७१.	योगकुण्डल्युपनिषत्	८६	योग०	३०७
७२.	योगचूडामण्युपनिषत्	४६	योग०	३३७
७३.	योगतत्त्वोपनिषत्	४१	योग०	३६३
७४.	योगशिखोपनिषत्	६३	योग०	३९०
७५.	रामपूर्वतापिन्युपनिषत्	५५	वैष्णव०	३०५
	रामोत्तरतापिन्युपनिषत्	५५	वैष्णव०	३२६
७६.	रामरहस्योपनिषत्	५४	वैष्णव०	३४४
७७.	रुद्रहृदयोपनिषत्	८५	शैव०	१४८
७८.	रुद्राक्षजाबालोपनिषत्	८८	शैव०	१५६
७९.	वज्रसूचिकोपनिषत्	३६	सामान्यवे०	४१६
८०.	वराहोपनिषत्	९८	योग०	४६४
८१.	वासुदेवोपनिषत्	५६	वैष्णव०	३७५
८२.	शङ्खभोपनिषत्	५०	शैव०	१६६
८३.	शाठ्यायनीयोपनिषत्	९९	संन्यास०	२२२
८४.	शाण्डिल्योपनिषत्	५८	योग०	५१८

संख्या	उपनिषदां नामानि	ईशादिसंख्या	संपुटनाम	पुटसंख्या
८५.	शारीरकोपनिषत्	६२	सामान्यवे०	४२३
८६.	शुक्ररहस्योपनिषत्	३५	सामान्यवे०	४२९
८७.	श्वेताश्वतरोपनिषत्	१४	शैव०	१७५
८८.	सन्न्यासोपनिषत्	६५	सन्न्यास०	२३६
८९.	सरस्वतीरहस्योपनिषत्	१०६	शाक्त०	७४
९०.	सर्वसारोपनिषत्	३३	सामान्यवे०	४४४
९१.	सावित्र्युपनिषत्	७५	सामान्यवे०	४५५
९२.	सीतोपनिषत्	४५	शाक्त०	८९
९३.	सुबालोपनिषत्	३०	सामान्यवे०	४६०
९४.	सूर्योपनिषत्	७१	सामान्यवे०	५०२
९५.	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्	१०५	शाक्त०	१०५
९६.	स्कन्दोपनिषत्	५१	सामान्यवे०	५०८
९७.	हयग्रीवोपनिषत्	१००	वैष्णव०	३८३
९८.	हंसोपनिषत्	१५	योग०	५५९

